जैन धर्म : संक्षेप में

[प्रो० ए० चक्रवर्ती नयनार एम०ए०एल० टी प्रेसीडेन्सी कालेज मद्रास द्वारा सम्पादित श्री कुन्दकुन्दाचार्य-रचित श्री पञ्चास्तिकायसार की अंग्रेजी प्रस्तावना का हिन्दी अनुवाद]

अनुवादक

प्रोफेसर श्री लखमी चद जैन, जबलपुर (म० प०)

तथा

श्री नरेश जैन व्याख्याता गोटे गाव (म० प०)

प्रकाशक

श्री दिगम्बर जैन साहित्य-सस्कृति

संरक्षण-समिति

डी-३०२, विवेक विहार, दिल्ली-११००६५

पुष्प संख्या : ४

प्राप्ति स्थान (१) श्री शिखरचन्द्र जैन
संरक्षक
श्री दिगम्बर जैन साहित्य–संस्कृति
संरक्षण–समिति
डी–३०२, विवेक विहार, दिल्ली–११००९५
(२) जैन साहित्य–विक्रय केन्द्र
जैन विद्या संस्थान, श्री महावीर जी
(राजस्थान) जिला स्वाईमाधोपुर

संस्करण : प्रथम
प्रतियाँ : १,०००
प्रकाशन वर्ष : १९९५
मूल्य : २५ रु०

I.S.B.N. ८१–९००४७०–३–५

समर्पण

साहित्य-संस्कृति-संरक्षण-समिति के प्रेरणा स्रोत
तीर्थ-विकासोपदेशी, परम तपस्वी, बहुभासी,
परमज्ञानी, महाकवि, लेकख, प्रेरक, साहित्यकार,
अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, चरित्र-चक्रवर्ती,
युग-प्रधानाचार्य, महान् सन्त,
श्री १०८ आचार्य गुरुवर्य श्री
'विद्यासागर' जी मुनिराज
के कर-कमलों में
सविन्य-सस्नेह
समर्पित

दो शब्द

आचार्य कुन्दकुन्द की प्राकृत भाषा मे निबद्ध सभी रचनाऍ चिन्तनपूर्ण एव महत्त्वपूर्ण है। उनमे एक **'पंचास्तिकायसार'** बहुश्रुत और बहुप्रसिद्ध रचना है। यह जैन धर्म की समान्य जानकारी के लिए बहुत उपयोगी तथा प्रामाणिक है।

इस पर आचार्य अमृतचन्द्र ने बहुत स्पष्ट और सक्षेप मे सस्कृत व्याख्या लिखकर कलश चढाने का उत्तम कार्य किया है।

इसकी इन्ही विशेषताओ से आकृष्ट होकर अग्रेजी मे प्रो० डॉ० ए० चक्रवर्ती नयनार प्रेसीडेन्सीकालेज मद्रास ने व्याख्या तथा प्रस्तावना के साथ सम्पादन किया। इसकी प्रस्तावना बडी महत्त्वपूर्ण है।

अत एव प्रो० एल०सी० जैन, मानद निर्देशक आचार्य विद्यासागर शोध सस्थान, जबलपुर द्वारा उस (ग्रस्तावना) का हिन्दी रूपान्तर करा कर उसे दि० जैन साहित्य–सस्कृति सरक्षण समिति, दिल्ली से प्रकाशित किया जा रहा है। ताकि हिन्दी–भाषी भी उससे लाभ उठा सके। श्री दि० जैन साहित्य–सस्कृति सरक्षण समिति का गठन परम पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज के सानिध्य मे ललितपुर की प्रथम वाचना के समय सभागत विद्वानो से हुए विचार विनिमय के निष्कर्ष रूप से जैन साहित्य एव सस्कृति के सरक्षण/सवर्धन के उद्देश्य के प्रामुख्य कर जुलाई १९८७ को थूबोन जी मे हुआ था। डॉ० दरबारी लाल जैन (कोठिया) न्यायाचार्य (बीना), श्री कुन्दन लाल जैन (विश्वास नगर) दिल्ली, डॉ० भाग चन्द्र जैन (भास्कर) नागपुर और डॉ० कस्तूर चन्द सुमन, जैन विद्या सस्थान, श्री महावीर जी (राजस्थान) इस समिति के अध्यक्ष, कार्याध्यक्ष, उपाध्यक्ष और मन्त्री है। इस समिति द्वारा अभी तक तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए है–कुन्दकुन्द–शब्द कोष (सकलन–डॉ० उदय चन्द जैन, उदयपुर) डॉ० ए. एन. उपाध्येय द्वारा लिखित प्रवचनसार की प्रस्तावना का हिन्दी रूपान्तरण–द्वारा प्रो० लख्मीचन्द जैन, जबलपुर, जैनीजम और महावीरा (इगलिश मे) द्वारा डॉ० भाग चन्द्र जैन (भास्कर) नागपुर।

हम दोनों विद्वानो प्रो० चक्रवर्ती एवं प्रो० एल०सी० जैन के आभारी हैं और उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं। इस पुस्तक के प्रकाशन में प्रूफ रिडिंग में श्री कुन्दनलाल जैन, विश्वास नगर दिल्ली ने अथक परिश्रम किया वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। इति शुभम्

बीना (सागर)
– म०प्र०
५–१०–१९९५,

(डॉ०) दरबारी लाल कोठिया
अध्यक्ष
दि० जैन सा० सं० समिति
डी–३०२, विवेक विहार, दिल्ली–११००९५

अनुवादकों की ओर से

प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती नयनार जैन दर्शन और इतिहास के ख्यातिलब्ध विद्वान थे। वे मद्रास के प्रेसीडेन्सी कालेज में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक रहे हैं। उन्होंने अनेक प्राचीन ग्रंथों को न केवल सम्पादित किया अपितु ग्रंथों की दार्शनिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से गंभीर एवं मौलिक विवेचना भी प्रस्तुत की। चूँकि प्रो० चक्रवर्ती का लेखन अंग्रेजी में है अतः जैन विद्या के हिन्दी पाठकों के बीच उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व लगभग अपरिचित सा है।

महान दार्शनिक और धर्म संगठक एलाचार्य कुंदकुंद द्वारा रचित अपूर्ण ग्रथ पचास्तिकायसार की भूमिका के रूप में लिखे गए प्रोफेसर चक्रवर्ती के प्रदीर्घ निबंध का अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यंत प्रसन्नता और गौरव का अनुभव हो रहा है। इस प्रदीर्घ निबंध में विद्वान लेखक ने कुदकुंदाचार्य के जीवन वृत्त तथा युगीन परिस्थितियों का गवेषणात्मक चित्रण किया है वहीं पंचास्तिकायसार के दार्शनिक पक्ष की आधुनिक दृष्टि से विवेचना की है।

प्रोफेसर चक्रवर्ती भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन की विभिन्न धाराओं के अधिकारी विद्वान होने के साथ आधुनिक भौतिक विज्ञान के सिद्धांतों के भी अध्येता थे। यही कारण है कि जहाँ उन्होने जैन दर्शन की यथार्थता को कांट, हीगेल, बट्रेन्ड रसेल, आदि पश्चिम के महान दार्शनिकों की यथार्थवादी चिंतनधारा के साथ व्याख्यायित किया है, वहीं जैन धर्म की वैज्ञानिकता को आधुनिक वैज्ञानिक अवधारणाओं के प्रकाश मे रेखांकित किया है। जैन चिंतनधारा का ऐसा अध्ययन अन्य किसी लेखक ने नहीं किया। यह एक महत्वपूर्ण निबध है जो जैन तत्त्वमीमांसा को पाश्चात्य दर्शन, भारतीय वेदांत, सांख्य और बौद्ध दर्शन तथा आधुनिक भौतिक विज्ञान के संदर्भ में एक साथ विवेचित करता है। इस आलेख की सबसे उल्लेखनीय विशेषता है–प्रोफेसर चक्रवर्ती की अध्ययन–दृष्टि जो संकीर्ण पूर्वाग्रहो से मुक्त है, पारदर्शी है और मौलिक है।

प्रोफेसर चक्रवर्ती की अंग्रेजी अत्यत प्रभावशाली परिष्कृत और अपने आशय को सम्यक् रूप मे सम्प्रेषित करने की क्षमता से युक्त है। हमने पूरा प्रयास किया है कि उनके लेखन का हिन्दी अनुवाद भी उतना सटीक और प्रभावशाली हो। यद्यपि यह एक कठिन और श्रमसाध्य कार्य था पर हमने प्रो० चक्रवती के प्रति अपनी सम्मान भावना के प्रकाश मे इसे प्रसन्नतापूर्वक पूरा किया है।

हमे विश्वास है कि जैन विद्या के सुधी पाठक इसका स्वागत करेंगे।

प्रो० एल०सी० जैन मानद निर्देशक
आचार्य विद्यासागर शोध सस्थान जबलपुर (म०प०)
तथा
नरेश जैन व्याख्याता
नेहरुवार्ड गोटे गाव
(रे० स्टे०) – श्री धाम (म०प०)

विषयानुक्रम

ऐतिहासिक परिचय

दार्शनिक परिचय

जैन मनोविज्ञान

जैन न्याय

रहना पडता है। भारत के प्रारम्भिक ऐतिहासिक सूत्रों को अनुमान और चिन्तन से खोजा गया है, फिर भी अनेक अन्तराल भरे नहीं जा सके है। इन परिस्थितियों मे हमे अपने ग्रन्थकार के इतिहास को लेकर बहुत सावधान रहना होगा।

भारत के कालक्रम में चन्द्रगुप्त मौर्य का काल एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर है। मगध के इस महान् शासक का उल्लेख न केवल भारतीय साहित्य मे बरंच विदेशी इतिहासकारों, विशेष रूप से ग्रीक लेखकों द्वारा पर्याप्त रूप से किया गया है। जैनों के प्रारम्भिक इतिहास के विद्यार्थियों के लिए सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य विशेष आकर्षण का केन्द्रबिन्दु रहे हैं। इस काल की पुरातात्त्विक सामग्री शिलालेखो तथा उपलब्ध तथ्यो की सतर्क विवेचना करके **लुई राईस** (Lewis Rice) और **डॉ० एफ० डब्ल्यू०, टॉमस** (Dr. F.W. Thomas) ने भारतीय इतिहास की उल्लेखनीय सेवा की है। "अशोक की पूर्व आस्था" तथा चन्द्रगुप्त के साथ भद्रबाहु का दक्षिण प्रवास अब इतिहास के सर्वमान्य तथ्य बन गए है। भारत के इतिहास और चरित्रो को यूरोपीय विद्वानो द्वारा पश्चात्वर्ती सिद्ध करना, समय को सहस्त्राब्दियो मे मापने वाले भारत के परपरावादी लेखकों की भ्रमोत्पादक तथा पौराणिक धारणाओ के लिए प्रतिकारक के समान है। तथापि हम स्पष्ट कर दे कि कई बार प्राच्यविदों ने उनके कार्य को आगे ही बढ़ाया है। वे इस अनुमान को लेकर आगे बढते है कि भारतीय सभ्यता में लेखन एक पश्चात्वर्ती उपलब्धि है। पाणिनी पर लिखे गए **गोल्डस्टिकर** (Gold Sticker) के पांडित्यपूर्ण तर्कों ने इस पूर्वानुमान को कुछ दशकों पूर्व शिक्षितजनो के सम्मुख उखाड़ फेका है। मथुरा के स्तूपो की खुदाई और के० पी० जायसवाल द्वारा शिलालेख सहित कोणिकामूर्ति की खोज से भारतीय कालक्रम का पेंडुलम पुनः प्रारम्भिक काल की ओर अग्रसर हो जाता है। जैन स्तूपो के विषय मे **सर विन्सेंट स्मिथ** (Sir Vincent Smith) लिखते है "सामान्यत. पूर्वधारणा बना ली गई है कि इस स्तूपाकार की सभी सरचनाए बौद्धो द्वारा निर्मित है जबकि विवेचित बौद्ध शिलालेख 157 ईसा पूर्व से अधिक पुराना नही है। मथुरा का जैन स्तूप इतना प्राचीन था कि उसे देवताओं द्वारा निर्मित माना जाता था। सम्भवतः इसे ईसा

ऐतिहासिक परिचय

कुंद कुंद अथवा एलाचार्य का युग

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचनाकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य अतिविख्यात जैन दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता थे। वे धार्मिक संस्थाओं के महान् संगठक भी थे। उनका नाम परम आदर और श्रृद्धा के साथ लिया जाता है, विशेष रूप से जैन धर्म की दिगम्बर परम्परा में। अनेक महान् धर्मगुरु स्वयं को कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा से जोड़कर गौरव का अनुभव करते रहे हैं। दक्षिण भारत तथा मैसूर से प्राप्त जैन मुनियों से सम्बंधित कई शिलालेखों का प्रारम्भ कुंद कुंदान्वय (कुंद कुंद की परम्परा) में होता है। जैन शास्त्रों के अध्येता इस प्रकार के वाक्याशों से सुपरिचित हैं।

श्री कुंद कुंद गुरु पट्टपरम्परायाम्,
श्री कुंद कुद संथानम्
श्री कुंद कुंदाख्य मुनीन्द्र वंश।

उक्त वाक्यांश कुछ ऐसे उदाहरण हैं जिनका अधिकारपूर्वक प्रयोग उपदेशरत्नमाला के रचयिता सकलभूषण, उपासकाध्यनम् के रचयिता वसुनंदि तथा औरत्न कथाकोष के रचनाकार ब्रम्ह नेमिदत्त द्वारा किया गया है। ऐसे अगणित प्रसंग हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि जैन धर्म गुरुओं की परम्परा में कुन्दकुन्दाचार्य का स्थान कितना महत्वपूर्ण है।

उनके चरित्रांकन के लिए प्रयुक्त कतिपय उपाधियाँ भी उनकी महानता को रेखांकित करती हैं। मुनीन्द्र, मुनियों के इन्द्र (श्रेष्ठ), मुनि चक्रवर्ती, मुनियों के सम्राट, कौन्देश, भगवान कुंद कुंद इस महान् धर्माचार्य की सुपरिचित पदसंज्ञाएं हैं।

अनेक विश्वविख्यात व्यक्तियों की भांति इन् महान् आचार्य का व्यक्तित्व भी रूढ़ परम्पराओं से आच्छादित होकर विस्मृत अतीत की गहराईयों में खो गया। अतः इस महान् व्यक्तित्व की प्रखर झलक देखने के लिए हमें कई मौखिक और लिखित परम्पराओं पर निर्भर

के कई शताब्दियों पूर्व प्रस्थापित किया गया था।" वे आगे लिखते हैं–

भगवान महावीर के निर्वाण की तिथि 527 ईसा पूर्व सामान्यतः मानते हुए उनके कैवल्य की तिथि प्रायः 550 ईसा पूर्व मानी जा सकती है। स्तूप का जीर्णोद्धार प्रायः 1300 वर्ष पश्चात् अथवा 150 ईसा पश्चात् माना जा सकता है। ईटों से उसका मौलिक निर्माण महावीर के पूर्व तीर्थंकर पार्श्वनाथ के काल में 600 ईसा पूर्व के बाद का नहीं होगा। कारण यह है कि शिलालेख "देवो द्वारा निर्मित" एक महत्वपूर्ण संकेत देता है कि ईस्वी सन् के लगभग प्रारम्भ का यह निर्माण तिथि 600 ईसा पूर्व के पौराणिक पुराकाल से हुआ, ऐसे विश्वास रूप मान्यता को प्राप्त था। यह अतिपूर्व भी नही है इसीलिए सभवतः यह स्तूप जिसकी नीव को **डॉ० फुहरेर** (Dr. Fuhrer) द्वारा प्रकट किया गया, भारत के प्राचीनतम–ज्ञात शिल्पो मे से एक है।

जब हम इन ऐतिहासिक अन्वेषणो के साथ–साथ जैन परम्परा पर, जिसके अनुसार भगवान महावीर के भी पूर्व तीर्थंकर हुए है, दृष्टि डालते हैं तो हमारी यह मान्यता एकदम निर्मूल नहीं बनती कि जैन मत के अनुयायी किसी न किसी रूप में भगवान महावीर से पहले भी विद्यमान थे और महावीर जैन धर्म के प्रवर्तक की अपेक्षा जैन मत के सुधारक और पुनर्सर्जक थे। यदि जैन इतने प्रभावशाली व समर्थ होते कि ई०पू० 600 से पहले अपने साधुओ के सम्मान में स्तूप बनवा सकते थे, तो यह मान लेने के लिए पर्याप्त आधार होता कि जैन धर्म के अनुयायी भद्रबाहु की दक्षिण यात्रा से पूर्व भी दक्षिण भारत में विद्यमान थे। वस्तुतः इस मान्यता के पीछे यह कारण है कि उत्तर भारत मे उत्पन्न भीषण दुर्भिक्ष के कारण अनेक जैन मुनि ऐसे देश की ओर प्रवासित हो गये जहा उनके प्रति श्रद्धालु समान धर्म के अनुयायी उनका स्वागत करने तत्पर थे। यदि दक्षिण भारत, जो कि प्रबुद्ध तपस्वियो के सघ के आतिथ्य के लिए आतुर होने के स्थान पर अनजानो एवं अन्य प्रदेश के धर्म से अपरिचितों द्वारा बसा होता तो भद्रबाहु अपने साथ उन तपस्वियों के विशाल संघ को एक अनजान प्रदेश में ले जाने का साहस कैसे कर पाते जबकि ये मुनि जनसाधारण की उदारता पर ही निर्भर रहते है। जैन अनुश्रुति कि

दक्षिण का पांड्य राजा अतिपूर्व काल से ही जैन मत का अनुयायी था और भद्रबाहु को उससे आतिथ्य की पूरी आशा थी, संभवतः ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित है।

भद्रबाहु के दक्षिण प्रवास तक, जैन संघ में कोई विभाजन न था। यह मानना कि श्वेताम्बरो का संघभेद भद्रबाहु प्रथम के युग में दुर्भिक्ष की जटिलताओ के चलते हुआ, संभावना से कही अधिक उचित है। इस तथ्य का प्रमाण यह है कि श्वेताम्बरों का दक्षिण भारत में पूर्णतः अभाव है। दक्षिण भारत तथा मैसूर के जैन सदैव स्वयं को मूलसघ के होने का अधिकारी बतलाते हैं।

एक और रोचक तथ्य है – धर्मप्रचार हेतु दिगम्बरों का दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवास। संगति का एक स्पष्ट तथा ध्यान रखने योग्य प्रकरण यह निकलता है कि दिगम्बरों के प्रवास की दिशा क्या थी? यह प्रवास दक्षिण से उत्तर भद्दलपुर से दिल्ली तथा जयपुर की ओर हुआ। इससे यह अभिमत पुष्ट होता है कि दिगम्बर – श्वेताम्बर सघभेद मूलतः उस समय हुआ जब जैन धर्म के मूल आवास बिहार मे भीषण दुर्भिक्ष की स्थिति उत्पन्न होने के परिणाम स्वरूप भद्रबाहु के नेतृत्व में अनेक जैन मुनियो ने दक्षिण की ओर प्रवास किया। (प्रोफेसर ए०एफ० रूडोल्फ हार्निले इड० एंटि० वाल्यूम 21, दिगम्बरों की तीन परवर्ती पट्टावलिया, पृष्ठ 60, 61)

प्रोफेसर होएर्नले (Prof. Hoernle) कहते है कि वे भद्दलपुर की पहचान नही कर सके। वह पाटलिपुर या पाटलिपुत्र ही हो सकता है जो कि तिरूपप्पुलियरि अथवा आधुनिक कुड्डलूर का प्राचीन नाम है (आर्कियालॉजिकल सर्वे आफ इंडिया की रिपोर्ट वाल्यूम 1906-07) **वी, वेंकिय्या** (V. Venkiyya) द्वारा पल्लवों पर लिखा गया लेख यह सुझाव देता है कि भद्दलपुर उपरोक्त स्थान नही है बल्कि वह तिरूवदि स्थान है जो कि उस पनरूति के निकट है जहा अनेक जैन पुरावशेष मिलते हैं। यह मात्र विस्तृत चर्चा का विषय है। फिर भी द्वारा प्रस्तुत कारण एकदम ठोस नहीं है। यह तथ्य कि पाथरिपुलियूर का उल्लेख देवाराम में है जो कि भगवान शिव को समर्पित है, जैनों के भी केन्द्र होने में कोई टकराव उत्पन्न नहीं करता।

यह भद्दलपुर अथवा पाटलिपुर हमारे ग्रंथकार कुंद कुंदाचार्य से संबंधित है, यह आगे दर्शाया गया है। अग्रसर होने से पूर्व हमें उनके काल का जिसमें वे जीवित ओर क्रियाशील रहे, निर्धारण कर लेना चाहिए। पुष्ट प्रमाण हेतु हमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों द्वारा सुरक्षित अनेक पट्टावलियां उपलब्ध हैं। महावीर के पश्चात् आचार्यों की शिष्य परम्परा इस प्रकार रही है।

1.	केवली	गौतम स्वामी	12 वर्ष
		सुधर्माचार्य	12
		जम्बू स्वामी	38
			62
2.	श्रुत केवली	विष्णु कुमार	14
		नद मित्र	16
		अपराजित	22
		गोवर्धन	19
		भद्रबाहु प्रथम	29
			100
3.	दस – पूर्वी	विशाखाचार्य	10
		प्रोष्ठिलाचार्य	19
		नक्षत्राचार्य	17
		नागसेनाचार्य	18
		जय सेनाचार्य	21
		सिद्धार्थाचार्य	17
		द्युतिसेनाचार्य (धृति सेन)	18
		विजयाचार्य	13
		बुद्धिलिंगाचार्य	20
		देवाचार्य	14
		धर्मसेनाचार्य	14 (+2=16)
			183
4.	एकादश अगी	नक्षत्राचार्य	18
		जयपालाचार्य	20
		पाडवाचार्य	39
		ध्रुवसेनाचार्य	14
		कसाचार्य	32
			123

5.	दश नौ और आठ अंगधारी	सुभद्रा चार्य	6
		यशोभद्राचार्य	18
		भद्रबाहु द्वितीय	23
		लोहाचार्य	50
			97
6.	एकांगधारी	अर्हदब्लि	28
		माघनदि	21
		धरसेनाचार्य	19
		पुष्पदताचार्य	30
		भूतबलिआचार्य	20
			118

कुल वर्ष – 62+100+183+123+97+118=683

आचार्य सुभद्र के पदग्रहण पश्चात् वर्ष 2 में विक्रम का जन्म हुआ। विक्रम के शासन के चौथे वर्ष में भद्रबाहु ने धर्माचार्य का पद ग्रहण किया। परवर्ती शिष्य परम्परा (उत्तराधिकारी) सारणी इस प्रकार है –

(भारतीय पुरावशेष 20 एव 21 परीक्षित अनेक पट्टावलियाँ)

यदि हम कुद कुद के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने का समय ई०पू० विश्वसनीय मानते है तो इनका जन्म काल प्रायः ई०पू० 52 होगा, कारण कि मात्र इस प्रकार कुद कुंद अपने जीवन के चवालीसवे वर्ष में आचार्य हुए होगे।

आचार्य कुद–कुद का जन्म स्थल क्या था और उनके जीवन कृतित्व का परिदृश्य क्या था? उनके जन्म स्थल के विषय मे कोई पुष्ट प्रमाण नही है। हमे यहां भी मौखिक और लिखित परम्परा पर निर्भर रहना पडता है। (पहले) हम यह देखे कि इन परम्पराओ से क्या कुछ उपयोगी सूचना मिल सकती है? पुण्यास्रवकथा में कुंद कुंदाचार्य के जीवन का एक प्रसंग शास्त्रदान के संदर्भ में आया है। वह कथानक इस प्रकार है। "भरतखंड के दक्षिण देश मे पिडथनाडु नामक जनपद था। इस जनपद के एक नगर कुरूमराई में कारामुन्डा नामक एक धनी वणिक (वैश्य) रहता था। उसकी पत्नी का नाम

प्रोफेसर होएर्नले द्वारा प्रस्तुत दिगम्बर पट्टावलियों के अनुसार कुंद कुंद अन्वय

क्र० स०	नाम	पदारुढ होने की तिथि		गृहस्थ			साधु			धर्माचार्य			(Intercalary)	योग			अभ्युक्ति
		सम्वत्	ईस्वी सन्	वर्ष	माह	दिवस	वर्ष	माह	दिवस	वर्ष	माह	दिवस	अन्तर्विष्ट दिवस	वर्ष	माह	दिवस	
1.	भद्रबाहु द्वितीय	4	ई०पू० 53	24	-	-	30	-	-	22	10	27	3	76	11	-	जाति से ब्राह्मण
2.	गुप्तिगुप्त	26	31	22	-	-	34	-	-	9	6	25	5	65	7	-	जाति से पँवार
3.	मेघनदि प्रथम	36	21	20	-	-	44	-	-	4	4	26	4	68	5	-	जाति से साह
4.	जिनचद्र प्रथम	40	17	24	9	-	32	3	-	8	9	6	3	65	9	9	—
5.	कुन्दकुन्द	49	8	11	-	-	33	-	-	51	10	10	5	95	10	15	इनके चार नाम और थे (अभाव) – पद्मनदि, वक्रग्रीव, गृद्धपिच्छ, एलाचार्य

श्रीमति था। उसके यहा एक ग्वाला था जिसका नाम मथिवरन् था। एक दिन जब वह पशुओ को लेकर समीपस्थ जंगल की ओर जा रहा था, उसने देखा कि सम्पूर्ण जगल दावानल से जल चुका है, किन्तु बीचो बीच कुछ वृक्ष अब भी हरे है। विस्मयपूर्ण जिज्ञासा लेकर वह उस स्थान तक गया और उसे देखा परखा। उसने पाया कि वहा किसी महामुनि का निवास है तथा वही एक पेटी रखी है जिसमे जैन शास्त्र (आगम ग्रथ) रखे है। उस अनपढ ग्वाले ने सोचा कि इस स्थान की दावानल से रक्षा इन्ही आगम शास्त्रो के कारण हुई है। अत· इन शास्त्रो को वह अत्यत भावावेग और श्रृद्धा के साथ घर ले आया। अपने स्वामी के घर में एक पवित्र स्थान पर आगम शास्त्रो को रखकर उसने उनकी पूजा करना प्रारभ कर दिया।

कुछ समय पश्चात् एक धर्मगुरु उस घर मे आए। उस धनी वैश्य ने अत्यत श्रद्धापूर्वक धर्मगुरु को आहारदान दिया। उसी समय उस ग्वाले ने धर्मगुरु को आगम शास्त्र भेट किए। आहार और शास्त्रो के बदले मे धर्मगुरु ने स्वामी और ग्वाले दोनो को प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद दिया। गृह स्वामी को कोई सतान न थी। आशीर्वाद के प्रभाव से वह बूढा और स्वामिभक्त ग्वाला मृत्यु उपरान्त स्वामी के पुत्र के रूप मे जन्मा। यह बालक कुशाग्र बुद्धि था और जैसे–जैसे समय बीता यही बालक एक महान दार्शनिक और धर्मगुरु के रूप मे विख्यात हुआ। यही हमारे महान ग्रथकार आचार्य कुद–कुद है।

इसके आगे की कथा उनके धार्मिक बिहारो से सम्बन्धित है। पूर्वविदेह क्षेत्र मे श्री सीमधरस्वामी के समवशरण मे श्रेष्ठतम बुद्धिमान मानव के रूप मे उनकी उपस्थिति, दो चारण ऋद्धिधारी मुनियो द्वारा उक्त तथ्य का सत्यापन, एकाग्रचित्त कुदकुंद द्वारा उनके प्रति उदासीनता, जुगुप्सावश चारण मुनियो की वापिसी, भ्रमोत्पादक प्रसग का निराकरण, कुद कुद और चारण मुनियो के बीच सामजस्य और अत मे कुद कुद की चारण मुनियो के साथ समवशरण मे उपस्थिति आदि प्रसग विस्तार से दर्शाए गए हैं। पूर्वजन्म में किए गए शास्त्रदान के पुण्य से वे महान् विचारक और सघनायक बने। अतत. उन्हे आचार्य पद प्राप्त हुआ, और इस प्रकार उनका जीवन कल्याणकारी एव गरिमामय व्यतीत हुआ।

दिगम्बर जैन कार्यालय सूरत से प्रकाशित एक पत्र कुदकुदाचार्य चरित्र" मे उनके जीवन की एक अन्यकथा का उल्लेख मिलता है। तदनुसार कुंद कुद का जन्मस्थान मालवा प्रदेश मे है। उनके माता पिता का नाम कुदलता एवं कुदाश्रष्ठि बताया गया है। शिक्षा प्राप्ति के लिए तरुण कुंद–कुंद को किसी गुरू के पास भेजा गया। प्रारभ से ही त्याग–तपस्या के प्रति कुदकुद की चित्तवृत्ति देखकर उन्हे मुनि दीक्षा देकर सघ में सम्मिलित कर लिया गया। बाद की कथा लगभग वैसी ही है जैसी कि पूर्व में वर्णित है।

उक्त दोनो कथाएं किवदंतियां प्रतीत होती हैं। दूसरी कथा किसी कल्पनाशील मस्तिष्क की उपज है जिसने हमारे कथानायक कुद कुद के नाम के आधार पर स्पष्टत. उनके माता पिता के नाम गढ लिये है। पहली कथा मे उल्लिखित स्थानों की सुनिश्चित पहचान कठिन है। मात्र यह जानकारी विश्वसनीय है कि ग्रथकार कुद–कुंद दक्षिण देश के थे। अनुपयुक्त सामग्री से युक्त इन दोनों कथाओ को टालकर अब हम पारिस्थितिक साक्ष्यो का आश्रय लेते हैं। इस तथ्य पर जोर दिया जाना चाहिए कि कुद कुद द्राविड संघ से सम्बद्ध थे।

"La communuate digambara portrait le nom de mula sangha. Un synonyme de ce terme parait. Etre Dravida sangha qui ne signifie sans doubte rein de plus que" communuate "des pays dravidiens". Le mula sangh comptait plusieurs secter dont la plus importante etait le kunde kund Anvaya" (-p. 42, Interoductio, Reportaire, Epigraphie, Jali)

पारिस्थितिक साक्ष्यो पर आधारित **गिरिनाट** (Guerinot) का यह सुझाव हमारे लक्ष्य के लिए उपयोगी सकेत है।

इस सिद्धान्त को, कि कुंद कुद द्रविड प्रदेश के थे, सुनिश्चित करने के लिए हमे कुछ और साक्ष्यो को एकत्र करना होगा। "मंत्र लक्षण" शीर्षक से एक अप्रकाशित पाण्डुलिपि मे निम्नलिखित श्लोक मिलता है.–

दक्षिण देशमिलये हमग्रामे मुनीर्महात्मासीत्।
एलाचार्य नाम्ना द्राविण, गणाधीशो, धीमन्।।

यह श्लोक हमारे लिए रोचक है। यह ग्रन्थ एलाचार्य की एक महिला शिष्या से सम्बन्धित है जिसे ब्रम्हराक्षस ने अभिभूत कर लिया था। यह अभिभूत महिला शास्त्रो मे निस्सदेह पारगत थी किन्तु वह हेमग्राम गाव के निकट जहा एलाचार्य रहते थे, नीलगिरि नामक लघु पर्वत के शिखर पर गई। वह उन्मत्त प्रलाप करती हुई कभी रोई और कभी हँसी। कहा जाता है कि एलाचार्य द्वारा ज्वाला मालिनी मत्र के प्रयोग से वह स्वस्थ हो गई। सौभाग्य से उक्त श्लोक मे वर्णित सभी स्थलो की पहचान हो गई है।

पूर्वी घाटो से घिरे हुए उत्तर आर्काट और दक्षिण आर्काट के भागो से निर्मित, मद्रास प्रेसीडेन्सी के एक हिस्से को "मलय" कहते है। कल्लकुरुचि, तिरुवन्नमलि और वदेवास के तालुके (जनपद) सम्भवतः इस मलय प्रदेश (तिरुवेन्नाविल) के मध्य भाग मे स्थित है। हेमग्राम जो कि पोन्नूर (पोण्णूर) का सस्कृत रूप है, वदेवास के निकटस्थ एक गाव है। इसी गांव से लगी हुई नीलगिरि नामक पहाडी है। कहा जाता है कि इसी पहाडी के ऊपर चट्टान पर जहा एलाचार्य ने तपस्या की थी वहा उन के चरणचिन्ह बने हुए हैं। अभी भी तीर्थयात्री वर्ष मे एक बार इन चरणचिन्हो की पूजा करने पहुचते हैं। आगे इस श्लोक मे एलाचार्य को "द्राविणगण अधीश" कहा गया है। जैसा कि हमे भली भाति ज्ञात है एलाचार्य कुद–कुद का यह एक और चिर परिचित नाम है।

यही एलाचार्य, जैन परम्परा के अनुसार तमिल के महान् चिरसम्मत ग्रन्थ तिरुक्कुरल के रचनाकार है। इसे तमिल भाषा के प्राचीन भारतीय छद (वेण्ण) मे रचा गया है। जैन परम्परा के अनुसार इस ग्रथ की रचना एलाचार्य ने की थी और अपने शिष्य तिरुवल्लुवर को उक्त ग्रन्थ दे दिया था। तिरुवल्लुवर ने मदुरा संघ से ग्रन्थ का परिचय कराया। यह कथा एकदम असंभव नही है क्योकि तिरुवाक्कुरल के रचनाकार के विषय मे जैनेतर परम्परा इसी कथा से अन्य रूपान्तरण रखती है। हिन्दू परम्परा मे तिरुवल्लुवर को ही ग्रन्थ का रचनाकार कहा गया है। उन्हे जन्म से वल्लुव और आस्था से शैव मत का अनुयायी कहा गया है। उनका जन्मस्थान चिरुमइलई अथवा भइलपुरी अथवा आधुनिक मइलपुर जो कि मद्रास शहर के

दक्षिणी भाग में है, बताया जाता है। उक्त ग्रन्थ की रचना एलालसिह के, जो कि तिरूवल्लुवर के साहित्य सरक्षक थे, सरक्षण मे की गई है।

हिन्दु परम्परा का यह एलालसिह नाम, एलाचार्य का परिवर्तित नाम हो सकता है। तिरुवल्लुवर दोनों परम्पराओ मे चर्चित है। एक मे रचना कार के रूप में और दूसरी परम्परा में सघ के समक्ष ग्रन्थ के प्रस्तुतिकर्त्ता के रूप मे। (तमिल ग्रंथ तिरुनूर–रुअनतादि (रुअनथाथी) के अनुसार) मइलपुरी मे भगवान नेमिनाथ का प्रसिद्ध जैन मन्दिर था और दक्षिण भारत के पुरावशेषीय तथा साहित्यिक प्रमाणो के अनुसार वह जैन मन्दिर जैन सस्कृति की प्रमुख पीठ था। यद्यपि तिरुवाक्कुरल ग्रन्थ पर शैव, बौद्ध और जैन अपना–अपना अधिकार व दावा करते है, तथापि ग्रन्थकार के धर्म के विषय मे कोई प्रामाणिक अभिलेख उपलब्ध नही है। ग्रन्थ के दोहो मे प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली तथा उसमे अनुस्यूत धार्मिक एव नैतिक सिद्धातो के निष्पक्ष अध्ययन से कोई भी इस निष्कर्ष पर पहुच सकता है कि यह ग्रन्थ जैन धर्म की आधारशिला "वीतराग" के नैतिक मूल्यो पर आधारित है। कृषि की सर्वोत्तम वृत्ति के रूप मे प्रशसा वेलालों की परम्परा की पुष्टि है। वेल्ललाल दक्षिण भारत के भूमिधारी कुलीन थे तथा दक्षिण मे सर्वप्रथम इन्होंने ही जैन धर्म अगीकार किया था।

कुरल के रचयिता एलाचार्य और कुद–कुद एलाचार्य की एक ही व्यक्ति के रूप मे पहचान हो जाने के बाद इस ग्रन्थ की रचनाकाल ईसा की प्रथम शताब्दी ठहरता है। यह सर्वथा असभाव्य नही है। डॉ० जी०यू० पोप इसे आठवी शाताब्दी तक की रचना मानते है। उनकी मान्यता के पीछे ठोस ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं है। उनका एक व्यक्तिगत पूर्वाग्रह है कि इतने उच्चतम् नैतिक मूल्यो से युक्त पवित्र, ग्रन्थ केवल स्वदेशी द्राविड भारतीय सस्कृति की देन नही हो सकता बल्कि भारत मे ईसाई मिशनरियो के आगमन के बाद उत्पन्न ईसाई प्रभाव के कारण ग्रन्थ की रचना सम्भव हुई है। **सेंट टामस** (St. Thomas) की परम्परा इस मान्यता पर बहुत बल देती है कि ग्रन्थकार ईसाईयत से अवगत था, पर ऐसा कोई आंतरिक साक्ष्य नही मिलता। ग्रंथ में अनुस्यूत सिद्धांत तमिल साहित्य विशेषतः जैनों द्वारा रचित

ग्रंथों जैसे नालर्णडियार, अरनेरिचारम पकमोक्ति एलादि आदि में बिखरे हुए है। जो भी व्यक्ति तमिल साहित्य से परिचित है वह कुरल को विदेशी सस्कृति से अप्रभावित विशुद्ध द्राविड विद्वानों और नीति शास्त्रियों की रचना मानने मे कोई मनोमालिन्य नही रखेगा। अस्तु, हम पूरी सभावना के साथ विश्वास कर सकते है कि कुरल के रचनाकार एलाचार्य और प्राभृतत्रय के रचनाकार कुद-कुद एक ही व्यक्ति है तथा वे ईसा की प्रथम शताब्दी के प्रारंभ मे विद्यमान थे।

कुरल के रचयिता एलाचार्य की कुंद-कुंद के रूप मे पहचान से इतिहास का एक और महत्वपूर्ण बिन्दु उभरता है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है, कि कुरल शिलप्पदिकारम् और मणिमेखला से पूर्व की रचना है। पूर्वकालिक कृति वगि के चेर राजा शिगुथुमन सेरन के लघु भ्राता इलगोवदिगोल द्वारा लिखित है। परवर्ती कृति जो कि शिलप्पदिकारम् की कथा को ही आगे बढाती है, इकगोवडिगल के समकालीन मित्र कूलवानिगन शात्तन द्वारा लिखित है। महावश के अनुसार देवी मंदिर (शिल्पदिकारम) की प्रतिष्ठा के अवसर पर श्रीलका के गजबाहु प्रथम जो कि ईसा पश्चात् 113 सन् मे राज्यारुढ हुए थे, स्वयं उपस्थित थे। अत कुरल की रचना इस तिथि से पूर्व हुई होगी, और इससे एलाचार्य अथवा कुद-कुद का युग परिपुष्ट होता है।

परम्परा और ग्रथावशेषो मे यत्र-तत्र बिखरे इन सभी तथ्यो से एक समन्वित साक्ष्य बनता है कि कुद-कुद द्राविड मूल के थे। यह भी प्रमाणित होता है कि वह द्राविड संघ के नायक थे तथा एक से अधिक भाषाओ के अधिकारी ज्ञाता थे। द्राविड सघ मे प्रयुक्त द्राविड शब्द दक्षिण भारत के जैनो के लिए विशेष सदर्भ रखता है। द्राविड अर्थात् कोल्लव्रतम अथवा अहिंसा धर्म का दृढतापूर्वक पालन करने वाले तमिल साहित्य में चर्चित वेल्लाल द्राविड ब्राम्हण गौड ब्राम्हणो के विपरीत पक्के शाकाहारी होते है तथा वे प्राणियो की बलि देकर यज्ञ कर्म नही करते। यह दक्षिण भारत में पूर्वकालीन जैन संस्कृति की विरासत है।

दक्षिण भारत के पूर्व इतिहास में चेर, कोल और पाड्य राज्य विद्यमान थे। यह सुपरिचित तथ्य है कि पाड्य राजा जैन मतावलंबी

थे तथा दक्षिण भारत मे जैन धर्म के सरक्षक थे। आठवीं शताब्दी में अप्पार और सुन्दरार द्वारा प्रवर्तित शैव पुनरुत्थान के दौरान उन्होने अपना मत परिवर्तन कर लिया था। श्रीलका के शासक गजबाहु के समकालीन चेर राजा के छोटे भाई द्वारा रचित तमिल ग्रथ शिलप्पदिकरम् के द्वारा संकेत मिलता है कि चेर राजा भी जैन थे। चोल राजा भी प्रारभ मे जैन धर्म के सरक्षक थे तथा बाद मे शैव मत से जुड गए थे। ये तीनो राज्य अशोक के समय मौजूद थे। इन तीनो राज्यो की राजभाषा सभवत तमिल थी। कुद–कुद इनमे से किसी एक राज्य में रहे होगे। उक्त विवेचन हमे उक्र धारणा की ओर ले जाता है यद्यपि एक बडी बाधा इस धारणा के रास्ते मे आती है।

प्रस्तुत अनूदित ग्रथ (पचास्तिकाय सार) प्राकृतभाषा मे है। प्राभृतत्रय, पचास्तिकाय, प्रवचनसार एव समय–सार के सभी टीकाकार इस तथ्य का उल्लेख करते है कि कुद–कुदाचार्य ने उक्त ग्रथ अपने राजशिष्य शिवकुमार महाराज के धर्म लाभ हेतु लिखे थे। यह शिवकुमार महाराज कौन थे तथा उनका राज्य कहॉ था, इस विषय मे टीकाकार मौन है। हम एक बार पुन. परिकल्पना का सहारा लेते है कि शिवकुमार महाराज जैन धर्म के अनुयायी रहे होगे तथा उनके दरबार की भाषा प्राकृत रही होगी। कुद–कुदाचार्य उनके धर्मगुरु थे अत वे दक्षिण के किसी राज्य मे शासक रहे होंगे। किन्तु तीनो तमिल साम्राज्यो, चेर, चोल एव पाड्य की राजवशावलियो मे यह नाम कही नही मिलता। इसका भी कोई प्रमाण नहीं मिलता कि इन साम्राज्यो के किसी राजा ने प्राकृत को दरबारी भाषा (राजभाषा) के रूप मे प्रयोग किया हो।

अपने मत के प्रतिपादन के पूर्व शिवकुमार महाराज की पहचान के लिए प्रस्तुत के०बी० पाठक के मत की चर्चा कर ली जाए।

द इडियन एटीक्वेरी वाल्यूम 14, 1885, पृष्ठ 15 के अनुसार "कुद–कुंद सर्वोच्च प्रतिष्ठित जैन ग्रंथकारो मे से एक थे। उनके द्वारा रचित प्रमुख ग्रथ हैं – प्राभृतसार, प्रवचनसार, समयसार, रयणसार और द्वादशानुप्रेक्षा।"

ये सभी ग्रथ जैन प्राकृत मे लिखे गए हैं। अभिनव पंप के पूर्ववर्ती टीकाकार बालचंद्र ने प्राभृतसार पर परिचयात्मक टिप्पणी मे लिखा है कि कुद–कुद को पद्मनदि भी कहा जाता था एव वे शिवकुमार महाराज के गुरु थे। मैं इन्हे पूर्व कदम्ब राज श्रीविजय शिव मृगेश महाराज मानता हूँ। कारण कि उनके काल में जैन, निर्ग्रथ और श्वेतपट इन दो सम्प्रदायो मे विभाजित हो गए थे तथा कुद–कुद श्वेत पट सम्प्रदाय पर आक्षेप करते हुए प्रवचनसार मे कहते हैं कि महिलाओं को वस्त्र पहनने की अनुमति दी गई है क्योकि वे निर्वाण प्राप्त करने को सक्षम नही है।

चिते चिंतामाया तम्हा तासि ण णिव्वाण।

उनके ग्रंथो से एक और रोचक तथ्य सामने आता है। कुंद–कुद के समय देश के इस भाग मे जैन धर्म का विस्तार नही हुआ था तथा यहां के निवासी विष्णु की आराधना करते थे जैसा कि ग्रंथकार ने समय–सार मे कहा है –

लोयसमणाण मेय सिधत पडि ण दिव्सदि विसेसो।
लोगस्स कुणदि विण्हू समणाण अप्पओ कुणदि।।

सिद्धान्त की दृष्टि से अन्य लोगो मे और श्रमणो मे कोई अतर नही है। अन्य लोगो की दृष्टि मे विष्णु सब वस्तुओ के सृष्टा हैं और श्रमणो की दृष्टि मे आत्मा ही सृष्टा है। अतः इन परिस्थितियों मे, साथ ही जैन पट्टावलियो में प्राप्त उच्च स्थान तथा जैन विद्धानों द्वारा उनके ग्रथो को धारवाड और मैसूर मे उपलब्ध प्राचीनतम जैन ग्रंथ के रूप मे मान्यता से मै इस निष्कर्ष पर पहुचा हूँ कि कुद–कुदाचार्य पूर्व कदम्बराज शिवमृगेश महाराज के समकालीन थे।

के० पी० पाठक द्वारा प्रस्तुत सभी तर्क एकदम संगत हैं। कुद–कुद श्वेताम्बर पंथ के उद्भव के बाद हुए है। श्वेताम्बर पथ का उद्भव भद्रबाहु प्रथम के समय हुआ था। सभवतः कुद–कुद के समय जनसाधारण वैष्णव सम्प्रदाय के वैदिक रूप के अनुयायी थे। किन्तु ये तथ्य शिवकुमार महाराज की कदम्बराज शिवमृगेश वर्मा के रूप मे पहचान करने में ठोस कारण नहीं बनते। लुईस राईस

(Lewis Rice) लिखित "मैसूर और कुर्ग" पृष्ठ 21 के अनुसार–"कदम्बों का राज मैसूर के पश्चिम में तीसरी से छठवी 'शताब्दी तक था।" जबकि शिव मृगेश वर्मा ने ईसा की पॉचवीं शताब्दी में शासन किया। किन्तु कुंद–कुद की धर्माचार्य पद पर प्रतिष्ठा ईसा पूर्व सन् 8 में हुई थी। जे० एफ० फ्लीट (J.F. Fleet) लिखित पूर्ववर्ती राजवश, बम्बई गजेटियर के वाल्यूम पृष्ठ 288 से –" यह पूर्ववर्ती कदम्बो के काल से सर्वथा अति प्राचीन (घटनाक्रम) है। यह भी ज्ञात नहीं है कि कदम्बराज प्राकृत भाषा से परिचित थे। अतः इन परिस्थितियो मे हमें कुद–कुद के अनुयायी शिवकुमार महाराज का पता ठिकाना कहीं और तलाशना होगा।

पल्लवराज्य की राजधानी काचीपुरम थी। पल्लवो ने तोडी–मडलम पर और कृष्णा नदी तक फैले तेलुगु प्रदेश के कुछ भाग पर शासन किया। पूर्वी तट से लगे हुए दक्षिण आर्काट में दक्षिणी उपत्यका और नैल्लौर मे उत्तरी उपत्यका के मध्य पूर्वी घाट तक की भूमि को तोडिमडलम् अथवा तोडिनाडु नाम से पुकारा जाता है। यह भूमि अनेक नाडुओ मे तथा प्रत्येक नाडु अनेक कोट्टमों मे बाटी गई थी। यह विद्वानो की भूमि थी। अनेक महान् द्राविड लेखक – कुरल के रचनाकार, महान् तमिल कवयित्री अव्वई, नलवेम्ब के रचयिता पुहजथी, ये सभी तोडिनाडु के निवासी थे। तोडिनाडु के निवासियो की सस्कृति और साहित्य के सदर्भ तमिल साहित्य मे फैले हुए है। तोडिनाडु की राजधानी काजीपुरम दक्षिण भारत में शिक्षा का महान केद्र रही होगी। देश के सभी भागों से विद्यार्थी अध्ययन हेतु काजीपुरम जाते थे। पल्लवो के दरबार मे सम्मान प्राप्त करने हेतु बडी सख्या मे विद्वान वहा पहुचते थे। कदम्बराजवश के पूर्व सस्थापको मे से एक मयूर शर्मा पवित्र ज्ञान की शिक्षा को पूर्ण करने के लिए पल्लवो की राजधानी गया था। वहा ब्राम्हण मयूर शर्मा का सघर्ष घोडों के प्रशिक्षक एव स्वामी से हुआ जो कि क्षत्रिय था और मयूर शर्मा ने संकल्प किया कि जन्मजात ब्राम्हण भी युद्ध हेतु अस्त्र शस्त्रो को चला सकता है और राज्य की स्थापना कर सकता है। इस प्रकार कदम्बराज वंश का सूत्रपात हुआ। काजीपुरम का वैभव–पल्लवराजधानी के रूप में ईसा की दूसरी शताब्दी तक विद्यमान था। विद्या के सरक्षक, काजीपुरम् के शासकों ने विभिन्न

धर्मों–हिन्दू, जैन व बौद्ध के प्रवक्ताओं के बीच दार्शनिक चर्चा को सदैव प्रोत्साहित किया। इस तरह की धार्मिक–दार्शनिक चर्चा में शामिल होते रहने से राजाओ की निजी आस्था पर भी प्रभाव पडना स्वाभाविक था। ईसा की प्रारभिक शताब्दी में विभिन्न प्रतिद्वन्द्वी धार्मिक समूहों द्वारा धर्मान्तरण का प्रयास एक सामान्य घटना थी। विभिन्न सम्प्रदायों के महान धर्म नायक देश देश जाकर राजाओ और प्रजा को अपने अपने धर्म मे दीक्षित करते थे। इसी क्रम मे, जैन इतिहास के अनुसार समंतभद्रस्वामी काजीपुरम गए और शिवकोटि महाराज को जैन धर्म की दीक्षा दी जो बाद मे संमतभद्र के शिष्य और उत्तराधिकारी शिवकोटि मुनि बने। आठवी शताब्दी के कुछ ही समय बाद, अकलक मुनि राजधानी पहुचे और दर्शन–शास्त्रार्थ मे बौद्धो को पराजित किया तथा बौद्ध मतानुयायी राजा हिमशीतल को जैनधर्म मे दीक्षित किया। अत· यह सभव है कि ईसा की प्रथम शताब्दी मे काजीपुरम के पल्लवराजा स्वय जैन धर्मानुयायी थे अथवा जैनधर्म के सरक्षक थे।

प्राचीन उत्कीर्ण अभिलेखो से यह भी ज्ञात होता है कि पल्लवराजाओ की राजभाषा प्राकृत थी। दक्षिण भारत के इतिहास मे मइदवोलु अनुदान पत्र के नाम से जाना माना अभिलेख एक महत्वपूर्ण प्रमाण है। यह प्राकृत मे है जिसका अपवाद अतिम छद सस्कृत में है जो कि "समापन–मगल" है। अनुदान पत्र की मूल सहति प्राकृत बोली मे है जो साहित्यिक पाली से मिलती जुलती है पर उसमे अनेक ऐसी विशेषताए तथा अपसरण रूप है (डॉ० बूलर एपि० इंडिका, वाल्यू० पृ०२) जो उसे पालि तथा अन्य प्राचीन भाषा रूपो की अपेक्षा जैन तथा महाराष्ट्री बोली के अधिक निकट लाते है। इसे काजीपुरम के पल्लव राजा शिव स्कदवर्मा ने जारी किया था। यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि अनेक बातों मे अनुदान पत्र की समानता मथुरा से प्राप्त शिलालेखो से है। अनुदान पत्र के प्रारंभ मे सिद्धम् शब्द का प्रयोग जो मथुरा के शिलालेखो से मिलता–जुलता है, जैन मूल से सबंधित है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण बिन्दु है राजा शिव स्कद का नाम जो शिवकुमार का दूसरा नाम प्रतीत होता है। निस्संदेह यही नाम आंध्र अन्वय में मिलता है। **एम०जे०जी० डुब्रेन** (M.J.G. Dubrien) ने दोनों राजवशो में वैवाहिक सबध की खोज की है। वे लिखते हैं

कि पल्लव राजवश के शिवस्कदवर्मा (युवामहाराजा) शिव स्कद शात कर्णी के दौहित्र है और उन्हे आन्ध्र नरेश का नाम प्रदान किया गया है जो उनके नाना का नाम था। यहां यह तथ्य बहुत विचारणीय नही है कि उक्त नाम पल्लवराजा द्वारा स्वतंत्र रूप से अपनाया गया था अथवा वंशपरम्परा से प्राप्त हुआ था। इतना जान लेना पर्याप्त है कि एक पल्लव राजा था जिसका नाम शिवस्कंद अथवा शिवकुमार महाराज था। एक अन्य दानपत्र मे भी युवा महाराज के रूप मे उनका उल्लेख है। यह नाम कुमार महाराज से भी मिलता जुलता है। अत यह बिल्कुल सभव है कि काजीपुरम के शिवस्कद अथवा इसी नाम का कोई पूर्वाधिकारी कुद–कुद का अनुयायी और समकालीन था। यह संभावना कुद–कुंद के विषय मे ज्ञात अनेक तथ्यो से मेल खाती है। कुद–कुद अथवा एलाचार्य तोडिमण्डलम् मे रहे होगे एव द्राविड सघ की पीठ पाटलिपुत्र नगर तोडिमडलम् मे थी।

इस सबध मे पल्लवो से सबधित दो मत हमे अस्वीकार करना पडेगे जोकि निराधार और असभव है। पल्लवो को सामान्यत. पर्सिया से आए हुए विदेशी माना जाता है। उन्हे पहलवी के रूप मे पहचाना जाता है (मैसूर और कुर्ग, **एल० राईस** (L. Rice), पृष्ठ 53) जो कि पार्थियन का प्राकृत रूप है। यहा विशेष रूप से आर्ससिदियन पार्थियन (Arsacidian Parthian)। यहा एल० राइस (Lewis Rice) एक और आश्चर्यजनक मत व्यक्त करते है कि कभी पल्लवो के शत्रु चालुक्य थे जो सलेकाइन्स (Salen Kaians) मूल के थे। व्ही. वैकिय्या इसी मत को स्वीकार करते है यद्यपि यह मत पूर्णतः व्युत्पत्ति शास्त्र पर आधारित है। नाम साम्य के आधार पर विकसित परिकल्पना का विशेष ऐतिहासिक महत्व नही होता जब तक कि उसे स्वतंत्र साक्ष्यो से परिपुष्ट नही किया जाता। यह मत दुर्भाग्य से इस प्रकार पुष्ट नही होता। अतः अन्य परिकल्पना कि पल्लव दक्षिण मे हिन्दू प्रजाति की एक शाखा थे, अधिक सभावनापूर्ण है तथा निर्विवाद दिखाई देती है।

एक और परिकल्पना, निरस्त होने से पूर्व हमारा ध्यान खीचती है–वह है पल्लवो को आदिवासी समूह कुरुम्बों से जोडने की। यह परिकल्पना भी काडवराय शब्द के प्रयोग पर आधारित है

जो पश्चात्‌वर्ती पल्लवों को निर्दिष्ट करता है। निश्चित है कि काडवराय शब्द का अर्थ है जगल का मनुष्य। किन्तु यह दर्शाने का कोई आधार नही है कि काडवराय वनवासी थे। तमिल साहित्य मे काडवराय एक अत्यन्त सभ्य और सुसस्कृत प्रजाति के रूप में वर्णित है। अत. पल्लवो को यह नाम दिए जाने के पीछे कोई अन्य कारण होगा। यह सभवत: पलक काडवराय का सक्षिप्त रूप है, पलक काडवराय अर्थात पलक्कड के निवासी तथा पलक्कड पल्लवों के शासन की ही एक शाखा था।

इन दोनो परिकल्पनाओ के असभाव्य होने से उन्हें त्यागने के बाद क्या हम इस मान्यता पर नही पहुचेंगे कि मौर्यों के उत्तराधिकारी आंध्रभृत्य और तोडिमगलम्‌ की जनता के बीच निकट संबध थे। तोडा शब्द का अर्थ तमिल भाषा मे है सेवा। तोडर शब्द का अर्थ हुआ सेवक आर यही आध्रभृत्य शब्द का तमिल अनुवाद भी है। अत. पल्लव अथवा तोडर आध्रों की एक शाखा हो सकते है जो आध्र राज्य का एक भाग विवाह सबध होने से अथवा अधिकार प्राप्ति के कारण दक्षिण मे व्यवस्थित हो गए थे। यह मत कि पल्लव आध्रभृत्यो से संबधित, उच्चकोटि के सभ्य और सुसस्कृत, भारतीय मूल के सदस्य थे, अधिक सभावनापूर्ण है तथा अन्य पारिस्थितिक साक्ष्योसे परिपुष्ट भी।

पल्लवो के इतिहास की विषयातर चर्चा इसलिए आवश्यक थी क्योंकि हमारे ग्रथकार कुद-कुद के जीवन से सबंधित तथ्यो से यह राजनैतिक पर्यावरण मेल खाता है। हम इस निष्कर्ष पर पहुच सकते है कि कुद कुदचार्य ने प्राभृतत्रय की रचना किसी शिवकुमार महाराज के लिए की थी जो पूर्ण सभाव्य रूप से पल्लव राजवश के शिवस्कद वर्मा ही थे।

निम्नलिखित अनेक ग्रथो के लेखन का कुंदकुदाचार्य को श्रेय है।

1 – प्राभृतत्रय
2 – षट्‌पाहुडम
3 – नियमसार आदि

इनमें से प्रथम तीन प्राभृतत्रय–पचास्तिकायसार, प्रवचनसार तथा समयसार सर्वाधिक महत्वपूर्ण और लोकप्रसिद्ध ग्रथ है। यहां पचास्तिकाय प्राभृत का अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है जिसमे पाच अस्तिकायो–जीव, आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल द्रव्यों का विशद विवेचन किया गया है।

पंचास्तिकाय की दार्शनिक विवेचना

जैन धर्म एक प्रेरणात्मक यथार्थवाद है। जब यूरोपीय विद्वानो ने भारतीय दर्शन और साहित्य का अध्ययन प्रारभ किया था, वे भारत की आदर्शवादी दर्शनिक प्रणालियो के प्रति विशेष सहानुभूति रखते थे। इन विद्वानो का बौद्धिक विकास काट और हीगेल की परम्परा मे हुआ था। काट ने अपने विवेचनात्मक दर्शन के प्रतिपादन में हमारे सामान्य अनुभवो की प्रतीयमानता (phenomenality) पर बल दिया है। "ऊर्ध्व मे स्थित दीप्तमान गगन" सहित यह बहिरग लोक, मानव के अपने मन के अनुरूप आकार–प्रकार वाली कल्पित सृष्टि है।

ह्यूम (Hume) की मताग्रही तद्रा से जागकर **कांट** (Kant) ने सच्ची तत्वमीमासा की सभावनाओ की पडताल प्रारभ की। ह्यूम का "अनुभवों का विश्लेषण" समाप्त हो जाता है जब वह उस अनुभव की बुनियादी अवधारणा को ही त्याग देता है। स्व की यथार्थता, वस्तुगत ससार और कार्यकारण सबध के निश्चित नियम इन सबका बुद्धिसगत आधार से रहित, मांत्र मानव की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों से उत्पन्न कल्पित अवधारणाए माना गया है। ऐसे सशयवादी समुद्र मे तत्वमीमांसा को डूब जाने से बचाने का प्रयास काट ने किया। सिद्धान्त निरूपण की पूर्व पद्धतियो को त्यागकर उसने अपने मौलिक आलोचनात्मक दर्शन को प्रतिपादित किया। इस प्रणाली का प्रमुख लक्षण है– मन को निस्पंद कोरी स्लेट (**लॉक का सिद्धान्त** Lockeian system) के विपरीत मन को सक्रिय मानना। इन्द्रियगम्य द्रव्यों और मन की सक्रियता के सहकार का परिणाम है प्रकृति। काल और आकाश के रूप तथा पूर्ववर्तिता से उत्पन्न बोध की श्रृखला, ये अनुभव के संरचनात्मक तत्व हैं। ज्ञान उन्हीं अनुभवो तक सीमित होता है, जो प्रतीयमान (phenomenal) हैं। यह प्रतीयमान लोक अथवा इद्रियगम्य लोक ऐसा द्वीप है जो तात्त्विक (परासत्ता) यथार्थ के

अनजाने समुद्र से घिरा हुआ है। इसे हम आधुनिक आदर्शवाद की आधारशिला कह सकते है।

निस्सदेह, काट ने इस सुझाव को, कि उसकी पद्धति आदर्शवादी है, अस्वीकार किया है। यह भी सच है कि वह द्रव्य की सत्ता को द्रव्य मे ही स्वीकारता है किन्तु तात्विक यथार्थ का यह क्षेत्र अज्ञात है और अज्ञेय भी। काट की व्यक्तिगत अभिरूचि के कारण यह विचार कुछ समय तक सुरक्षित रहा पर बाद मे उसी के उत्तराधिकारियो ने सर्वप्रथम इसी विचार को नकार दिया।

हीगेल (Hegel) के प्रभाव से जर्मन आदर्शवाद को असाधारण शक्ति और ऊर्जा प्राप्त हुई। प्रणाली नियमन की अपनी अपूर्व प्रतिभा के बल पर हीगेल ने आदर्शवाद का ढॉचा काट की परम्परा पर खडा किया। स्वय मे स्थित वस्तु से रिक्त कल्पना की भॉति पिंड छुडाया गया। यथार्थ को ठोस अनुभव से जाना गया। इस तरह काट का तत्वमीमासात्मक द्वैत आदर्शवादी अद्वैत मे परिवर्तित हो गया। हीगेल की अवधारणा है कि यथार्थ परमचेतना के समान है। सभी सात वस्तुए और व्यक्ति इस परमात्मा के मात्र गुणो या विशेषणो के ही लघुकृत रूप हैं तथा निरपेक्षता (परमात्मवाद) आत्मा की प्रकृति है। हमारे साधारण अनुभव मे आने वाली सभी अन्य वस्तुए मात्र "आभास" है किन्तु यही परम आत्मा ही यथार्थ है, सत्य है।

जर्मनी के इस आदर्शवादी अद्वैत के अतिरिक्त चितन का एक और महत्वपूर्ण पक्ष था जिसने आधुनिक विचार प्रवाह को निर्धारित किया। **हर्बर्ट स्पेंसर** (Herbert Spancer) ने अपनी सश्लेषणात्मक पद्धति मे सृष्टि के विकास की रूपरेखा तैयार की। स्पेन्सरीय (Spencerian) दर्शन ने तत्त्वमीमासात्मक अद्वैत और अनुभव की प्रतीयमानता (प्रत्यक्षवादिता) के क्षेत्र मे अपना मौलिक योगदान दिया। इस प्रकार उन्नीसवी सदी का दर्शन विशेष रूप से अंतिम चौथाई सदी मे अद्वैतवाद का प्रबल प्रवक्ता बना। इसी अद्वैत निर्वचन की ओर सामान्य प्रवृत्ति के कारण पश्चिम का भारत के प्रति लगाव बढा। स्वाभाविक है कि **मैक्समूलर** (Maxmular) और **दासें** (Deussen) जैसे यूरोपीय विद्वान् शकर और रामानुज की तत्वमीमासा व उडानो की ओर सहानुभूति पूर्वक आकर्षित हुए। वेदात के अनन्य (अटल)

अद्वैतवाद को भारत की "प्राच्य संस्कृति के फल" के रूप मे सराहा गया।

दार्शनिक प्रवृत्ति कभी स्थिर नहीं रहती। वह सदैव आदर्शवाद और यथार्थवाद के बीच दोलायमान होती रहती है। पश्चिम मे आदर्शवाद को एक धक्का लग चुका है। ब्रेडले और बोजॉके (Bradley and Bosanquet) जैसे अग्रेज दार्शनिक जो हीगेल की परम्परा में थे तथा जिन्होने दर्शन के क्षेत्र मे अधिकारपूर्वक शासन किया था अब खुले रूप में चुनौती का सामना कर रहे थे। आदर्शवादी प्रभाव के विरूद्ध यह विद्रोह अनेक माध्यमो से अभिव्यक्त हुआ है। परिणामवाद का समर्थन जेम्स ने किया तथा डैवी ने निष्फल बुद्धिवाद के खोखलेपन को उजागर किया।

विचार (thought) और यथार्थ (reality) के बीच पहचान के हीगेलीय सिद्धान्त (Hegalian doctrine) को और आत्म सामजस्य तथा आत्म सगति के रूप मे सत्य की आनुषगिक कसौटी को घातक तत्त्वमीमांसा की तरह निंदित किया गया। आस्था (belief) के प्रति निश्चय (will) को ज्ञान में एक महत्वपूर्ण घटक (factor) स्वीकार किया गया। विचार (thought) के प्रायोगिक प्रमाणीकरण को, जो विज्ञान मे प्रयुक्त विधि है, दर्शनशास्त्र के क्षेत्र मे भी सत्य विधि माना गया। विज्ञान मे विचारो का अध्ययन सत्य और ठोस आधारो पर किया जाता है। जीवन को अधिकाधिक सक्षम बनाने वाले उपकरण के रूप में विचारो का उसकी उपयोगिता के आधार पर मूल्य निर्धारण किया जाता है। यहा तक कि माख (Mach) और प्वाकरे (Poincare) जैसे वैज्ञानिक भी विचार की इस उपकरणता को स्वीकार करते है। अवधारणाए प्रकृति को समझने के लिए मात्र सुविधाजनक कल्पनाए हैं।

ऑक्सफोर्ड (oxford) विश्वविद्यालय से ऐसा दार्शनिक सशयवाद (Schism) उठ खडा हुआ जिसने परम (Absolute) के दावे को लेकर दृढतापूर्वक सवाल किए। **शिलर** (Schiller) और **रेशडैल** (Rashdell) **स्ट्रल्ट** (Strult) तथा अन्य ने हीगेल के सुदृढ दुर्ग पर आक्रमण किए। परमसत्ता को धिक्कारा गया क्योकि इससे न तो दार्शनिक जिज्ञासाओ का समाधान होता है और न ही उसमे धार्मिक चेतना के प्रति प्रेरणा का भाव होता है।

फ्रॉस और इटली के **बर्गसन** (Bergson) और **क्राक** (Croce) का स्वर भी विरोधपूर्ण है। बर्गसन ने हीगेल के परम को नकार कर विकास वाद पर आधारित ब्रम्हाण्ड के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वह भी बुद्धि (intellect) की आलोचना करता है क्योंकि बुद्धि यथार्थ की अतरंग प्रकृति को समझने मे अक्षम है। बुद्धिवाद के प्रति उसका विरोध अततः उसे सभी दार्शनिक और वैज्ञानिक सृजन के विरूद्ध हठधर्मी क्राति की ओर ले जाता है। वह "प्रज्ञा" को यथार्थ की सिद्धि का एक मात्र साधन मानने का आग्रह करता है। इसी प्रकार क्राक जीवित और मृत का पृथक्करण प्रयास हीगेल के सिद्धान्त मे करता है। इस प्रकार जर्मन आदर्शवाद पर चतुर्दिक प्रहार हुए है। किन्तु आदर्शवाद के सर्वाधिक आपत्तिकर्त्ता विरोधी के रूप मे नव यथार्थवाद का उदय हुआ।

एक अन्य अप्रत्याशित स्रोत से भी विरोध का स्वर मुखरित हुआ। गणित विज्ञान ने, जिसकी कथित दुर्बलता **कांट** (Kant) के आदर्शवाद की शक्ति थी, तत्त्वमीमासा को चुनौती देने का अपना दावा किया। **केन्टर** (cantor), **पियनो** (Peano) और **फ्रिज** (Frege) की गणितीय खोजो ने सदैव के लिए पुन. कुछ आधारभूत गणितीय अवधारणाओ जैसे "अनन्तता" एव निरतरता का दावा किया, जिनकी अकारण आलोचना तत्त्वमीमासको ने की थी। जैसा कि **बट्रेन्ड रसेल** (Bertrand Russell) स्पष्ट करते है, आधुनिक आदर्शवाद को हमेशा के लिए काटीय आधार पूर्णत· त्याग देना चाहिए। काट द्वारा प्रस्तुत तथा कथित उपपत्ति प्रदर्शन पर उसकी निर्भरता अब बनी नही रह सकती है क्योकि काट द्वारा वास्तविक आकाश और काल को असम्भव बतलाया गया है।

यथा्र्थवाद की इस लहर मे आगे अधिक तीव्र प्रवाह हुआ है क्योकि वह आधुनिक विज्ञान से प्रगाढ रूप मे सहयोजित है। हीगेल का पारम्परिक पश्चिमी आदर्शवाद, विशेष रूप से विज्ञान के हितो के सर्वथा विपरीत रहा है। निरापद रूप से कहा जा सकता है कि तत्त्वमीमासा की वह प्रणाली जो आधुनिक विज्ञान की विधियो और उपलब्धियो को विचार धारा में समन्वित नही करती, आत्मप्रवचना करती है। विज्ञान के इस दावै से कि वह सत्य की खोज का सच्चा

साधन है, कोई भी आंख नही मूंद सकता । उसका दावा, उसकी उपलब्धियो के कारण आश्चर्यजनक रूप से पुष्ट होता है और हम कह सकते है कि परिणामी आधुनिक जीवन और आधुनिक विचार का मुख्य स्रोत आधुनिक विज्ञान ही है, इस सीमा तक कि तत्त्वमीमांसा की किसी भी प्रणाली को, जो यथार्थ के रहस्य के ताले को खोलने की उत्कट चाह रखती है, आधुनिक विज्ञान के साथ खुले रूप मे टकराव मोल नही लेना चाहिए। अतः नव यथार्थवाद को एक श्रेष्ठ साथी मिल गया है।

आज जब हम आधुनिक विचार मे होने वाले परिवर्तनों के प्रति जागरूक है, स्वाभाविक रूप से हम अतीत की समान दार्शनिक प्रवृत्तियो के परीक्षण के लिए प्रेरित होते है।

यहां दर्शन के विद्यार्थियो के समक्ष अतीत का सहानुभूतिपूर्ण सूक्ष्म परीक्षण प्रस्तुत है। जैन प्रणाली की सगति आधुनिक यथार्थवाद और आधुनिक विज्ञान से इतनी अनूठी है कि कोई भी व्यक्ति जैन दर्शन प्रणाली की प्राचीनता को लेकर प्रश्न उठाने लालायित हो सकता है। पर यह सच है कि ऐसी प्रणाली भारत में ईसा की कई शताब्दियो पूर्व ही फल फूल चुकी थी।

आगे के पृष्ठो पर जिस ग्रथकार (कुदकुदाचार्य) की कृति का अनुवाद किया गया है, वह ईसापूर्व प्रथम शताब्दी मे विद्यमान थे। अत. यह ग्रंथ जैन विचारधारा (Jain thought) के प्रारभिक प्रबंधो मे से एक है। किन्तु ग्रथकार इस प्रणाली के प्रथम प्रवर्तक नही थे। जैनो का अनेकातवाद, जैन धर्म के तीर्थकर महावीर से अधिक प्राचीन है। उन्होने जैन धर्म का पुनरूत्थान किया, ऐसा विश्वास है।

प्राचीन दर्शन में यथार्थवादी प्रवृत्ति जैनमत के लिए कोई असाधारण बात नही है। बहुत पहले से ही विश्व और जीवन की व्याख्या का यह सिद्धान्त (principle) यथार्थवाद (realism) के समानान्तर चला आ रहा है। वैदिक काल में हमें यथार्थवाद का स्थूल रूप देखने मिलता है। वैदिक देवता महिमा मंडित मनुष्य ही थे जिनमें वे सभी दुर्बलताएं और न्यूनताएं थी जो मनुष्यो में सामान्यतया होती हैं। जब इंद अग्नि, वायु अथवा वरुण को ऋचाओ के सस्वर पाठ

के बीच यज्ञ में बलि भेट की जाती थी तो कोई सदेह नही रहा जाता कि वे सभी चारो ओर के ससार की वास्तविक घटनाए थी। न केवल वेदों मे प्राकृतिक लोक को यथार्थ माना गया बल्कि तद्विषयक अनेक तत्त्वो की कल्पना मानवीय रूप मे की गई थी। निस्सदेह, वैदिक विचारधारा के अन्त प्रवाह में हमे एकसूत्री प्रवृत्ति दिखाई देती है। निस्सदेह सभी वैदिक देवता सृष्टि के रचयिता प्रजापति के अधीनस्थ थे।

किन्तु प्रारभिक सस्कृति का यह अद्भुत कालखंड भ्रामक कर्मकांड के अर्थहीन दौर में प्रवेश कर गया। ब्राम्हण काल, यज्ञ और बलि प्रथा का पर्याय बन गया। यज्ञ कर्म के लिए जटिल सूत्र गढ लिए गए। भावपूर्ण काव्यात्मक उद्गारो का स्थान कर्मकाड ने ले लिया। पुरोहित वर्ग का उदय हुआ। यज्ञ कराने वाले यजमान को भारी शुल्क या दक्षिणा देकर पुरोहितो को यज्ञ हेतु राजी करना पडता था। इस युग मे धार्मिक भावना क्षुद्र वाणिज्य व्यापार मे बदल गई। लेकिन यह स्थिति अधिक समय तक नही बनी रही। जब पुरोहित कर्मकाड के अधिकाधिक जटिल नियम गढ रहे थे, चितको का एक अन्य समूह प्रकृति, सत्य और यथार्थ के अन्वेषण मे लग गया था। इसी समय समरूप आर्य जनजाति के बीच वर्ण विभाजन प्रारभ हो चुका था। इन वर्णो मे से क्षत्रियो (युद्धकला मे कुशल) ने यथार्थवादी रहस्य को जाना। उन्होने ब्रह्म विद्या नामक नए दार्शनिक पथ को जन्म दिया। ब्रह्म विद्या का मूलभूत सबध अन्तर्दर्शन द्वारा उपलब्ध आत्मिक अत प्रज्ञा से था। मानव ने पहली बार अपने आपको खोजा। अतत आत्मतत्त्व (आत्मा) को यथार्थ माना गया। आत्मा न तो शरीर है और न ही इद्रिया। वह इस दैहिक सरचना से परे और पृष्ठ मे कुछ और है। वह सुनती है पर उसे सुना नही जा सकता। वह देखती है पर उसे देखा नही जा सकता। वह इद्रियो और मन की सक्रिया का सचालन सभव करती है पर स्वय इद्रियगम्य नही है। यह अमूर्त तत्त्व ही सामान्यत· आत्मा अथवा ब्रह्म कहा गया था। यूनान के पिथेगोरीय (Pythagorians) शिष्यो के समान भारतीय चितको ने भी अपने तत्व ज्ञान को गुप्त रखा। इस नए मत के प्रवर्तक और संधारक क्षत्रियो ने कुछ ही सुपात्रो को अपना ज्ञान दिया। उपनिषदो के ज्ञान (इस नए मत को इसी नाम से जाना गया) ने शीघ्र कर्मकाड

का स्थान ले लिया। आत्म उपलब्धि के साधन के रूप मे ज्ञान काड ने कर्म काड के ऊपर अपने को स्थापित कर लिया। स्वय पुरोहित भी कर्मकांडीय प्रविधियों को त्याग, नए गुह्य तत्व–ज्ञान को अपना कर समूह मे एकत्रित हो राज दरबारों में प्रवेश (घुसपैठ) करने लगे। इस प्रकार यह सघन विवेचना, शोध और आत्म विश्लेषण का युग था। बाद के समय में जो दार्शनिक प्रणालियां विकसित हुई उनके बीज पुनः इसी काल मे बिखरे मिलते है। निस्सदेह याज्ञवल्क्य उपनिषद काल के शीर्ष व्यक्तित्व है। निस्संदेह उन्होने नए और पुराने के बीच सामंजस्य स्थापित किया। उनके द्वारा नव मनीषा एक अनूठे अद्वैतवाद के रूप मे सामने आई। किन्तु वह प्रवाह जो उत्तरवर्ती वेदात का प्रामाणिक उद्गम है, उपनिषदीय मनीषा के अनेक प्रवाहों में से एक है। यह तथ्य बाद के समय मे संरचित विभिन्न दार्शनिक प्रणालियो के अध्ययन से भलीभॉति प्रमाणित होता है।

भारत मे विकसित दार्शनिक प्रणालिया मुख्यत दो वर्ग की है–परम्परानिष्ठ शास्त्र सम्मत (आस्तिक) और नास्तिक। षट्दर्शन–पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमासा या वेदान्त, सांख्य योग, न्याय तथा वैशैषिक ये परम्परानिष्ठ दर्शन है। नास्तिक दर्शन है– बौद्ध, जैन, तथा चार्वाक एव वृहस्पति के दर्शन। निश्चित ही ब्राम्हणवादी विद्वानो द्वारा किया गया यह वर्गीकरण अर्थपूर्ण नही है। परम्परानिष्ठ (आस्तिक) तथा नास्तिक शब्दावली का प्रयोग वेदो के प्रति इन दर्शनों के दृष्टिकोण के सदर्भ मे किया गया है। कपिल मुनि का साख्य दर्शन भी निरीश्वरवादी है और वैदिक यज्ञों मे बलिदानों का विरोधी होने से जैन व बौद्ध मतो से जुड गया है। पूर्व मीमासा या वेदान्त सृष्टि के सर्जक और सृजन की व्यावहारिकता को नकारता है तथा इसीलिए सृष्टि को माया का परिणाम मानता है। इस कथन मे पर्याप्त सत्यता है कि वेदान्त छद्मवेश में बौद्ध धर्म ही है। अतः यह परम्परागत वर्गीकरण न तो दार्शनिक और न ही धार्मिक कसौटी पर खरा उतरता है।

उत्तर उपनिषदीय चितन की विविध प्रणालियों मे केवल वेदान्त ही प्रभावशील बना रहा किन्तु विद्यार्थी जो अन्य प्रणालियों का निष्पक्ष अध्ययन करते है, भारतीय दर्शन और सस्कृति के विकास मे उन सभी के महत्वपूर्ण योगदान को स्वीकार करेंगे।

विशेष सीमा तक प्रवृत्त यथार्थवादी प्रणालियों के ऊपर वेदान्त की श्रेष्ठता की स्थापना ऐसी बात नहीं है जिसके लिए हम अपनी पीठ स्वय थपथपाए क्योकि यथार्थवाद सामान्यत. विज्ञान से जुडा रहता है तथा भौतिक ससार की रचना से सबंधित अनेक वैज्ञानिक सिद्धात इन्ही यथार्थवादी सप्रदायों से साहचर्य रखते है जैसे– न्याय और वेशैषिक मतो का अणुसिद्धात (atomic theory)। आदर्शवाद पश्चिम मे भी प्रकटत या गुप्ततः विज्ञान के हितो के विरोध मे रहा है। अत शक्तिशाली आदर्शवादी के सम्मोहक भ्रमजाल से दूर हटने का कोई भी प्रयास विज्ञान और दर्शन के निष्पक्ष विद्यार्थी द्वारा स्थगतेय होगा।

भारतीय चिन्तन के विविध यथार्थवादी मत–सप्रदायो का विस्तृत अध्ययन यहा सभव नही है। हम यहा जैन दर्शन को जो सामान्यत. विद्वानो द्वारा उपेक्षित है अथवा कतिपय प्रवक्ताओ द्वारा गलत समझा गया है, अपने अध्ययन का विषय बना रहे है।

-: जैन भौतिकी :-

भारतीय प्रज्ञान मे क्षत्रियो के योगदान की चर्चा हम कर चुके है। अपने 'सादा जीवन उच्च विचार' से उन्होने मानव चेतना को निष्फल कर्मकाण्डवाद की दासता से मुक्त किया। जबकि पुरोहित वर्ग यज्ञकर्म की योजनाओ मे उलझा हुआ था, इन क्षत्रिय ऋषियो के मस्तिष्क प्रतीयमान विश्व के पीछे छिपी शाश्वत सत्ता की प्रकृति को समझने और लोक (Universe) की पहेली सुलझाने की अदम्य इच्छा से प्रेरित थे। अद्वैतवाद का प्रभावशाली केन्द्र राजा जनक का दरबार था किन्तु नव क्षत्रिय चितन के भी अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। चितकों का यह वर्ग वैदिक युग के पारम्परिक चिंतन से समझौता नही कर सका। उनका द्वैतवाद और बहुलवाद की ओर तीव्र झुकाव था। वे अपने नए चितन मे वैचारिक उदारता के प्रबल पक्षधर थे। जब कभी उनके आदर्श और वेद मे कोई वैचारिक द्वन्द्व उपस्थित होता, वे नि.संकोच वेद की आधिकारिकता को अस्वीकार कर देते थे। नव चितन के अग्रदूतो की वाम पंक्ति मे साख्य, जैन और बौद्ध मतों की दार्शनिक प्रणालियों के प्रति हम ऋणी हैं। प्रसगवश यहा यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि भारत की महानतम् बौद्धिक

उपलब्धिया, बल्कि मानवता के हित की सभी विशिष्ट और महत्वपूर्ण निष्पत्तियाँ क्षत्रिय जाति के द्वारा निष्पन्न की गई है।

सांख्य प्रणाली दो प्रकार के अस्तित्वो की पूर्व कल्पना करती है--भौतिक और अध्यात्मिक, प्रकृति और पुरूष बल्कि अनत सख्या वाले पुरूष। जड और चेतन (matter and spirit) के बीच भेद द्वारा सांख्य के अनुसार मुक्ति प्राप्त होती है। ऐसे प्राकृतिक रूपान्तरण जो सृष्टि विकास को संरचित करते हैं उनसे भिन्न–भिन्न निज अंतरग गुणो को पहचान कर व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करता है। न केवल वास्तविक भौतिक परिवर्तन वरन् इच्छा, लिप्सा और बुद्धि जैसे मनोवैज्ञानिक तथ्य भी प्रकृति के कारण होते है जबकि नैतिक उत्तरदायित्व से हीन होकर सम्पूर्ण नाटक मे पुरूष उदासीन दर्शक की भॉति रहा आता है।

स्पष्टत इसी द्वैत प्रवृत्तियो का समान अनुगमन करते हुए किन्तु नैतिक उत्तरदायित्व वाले अन्तिम बिन्दु से भिन्न रहकर जैनों और बौद्धो ने गहरे धार्मिक रग सहित अपनी–अपनी प्रणालियो को निर्मित किया। बौद्धो का अपने लक्ष्य से निशाना ऊपर निकल गया दिखाई देता है। क्षणिकवाद के न्याय से सज्जित उन्होने यथार्थता के सम्पूर्ण ससार को लघुकृत इस प्रकार किया कि भौतिक और आध्यात्मिक ससार मात्र क्षणभर के अस्तित्व के लिए इन्द्रिय गुणों की केवल क्रमबंद्धता (concatenation) रह गई। इसी परिणाम पर स्वतन्त्रतापूर्वक ह्यूम अनेक शताब्दियो पश्चात् पहुचे। न तो शाक्य मुनि के इस सवेदनात्मक शून्यवाद को और न ही कारणात्मक एकत्ववाद सम्बन्धी निर्वचन को जैनो द्वारा अनुकूल माना गया है। इन दोनो अतियो (extremities) से दूर रहते हुए वे आगे निकल जाते है। वे साख्यो के पुरूषो को स्वीकार कर लेते हैं किन्तु उनके सिद्धान्त मे ये पुरूष मात्र उदासीन दर्शक नही रह जाते है। वे अपने भाग्य या नियति के सक्रिय वास्तु शिल्पी होते है और अपने ही प्रयत्नों द्वारा आचरण के लिए नैतिक रूप से पूर्ण उत्तरदायी रहते हुए अन्तिम स्वतन्त्रता (मुक्ति) प्राप्त करते है। इसी प्रकार प्रकृति को जो सूक्ष्मरूप से पुनर्निर्मित किया गया है उसे अधिक निश्चित बनाया गया है। उसमे अनेक अतर्निहित मनोवैज्ञानिक वस्तुओं को नकारा गया है।

उसे आधुनिक वैज्ञानिक अभिप्राय में जड़ के रूप मे पहचाना गया है और उसे पारमाण्विक सरचना भी प्रदान की गई है। उसे नए नाम पुद्गल (matter) से प्रकट किया गया है। पुद्गल का अर्थ जड होता है। भौतिक वस्तु जिसमे अनेक इद्रियगम्य गुण होते है और जो आकाश को व्याप्त करती है उसे मूर्त और रूपी वस्तु कहते है। पुद्गल या जड के विषय मे विवेचन करते हुए जैन चिंतको द्वारा इन्द्रिय गम्य प्रतीति द्वारा स्पष्ट रूप से गुणों का बोध किया गया है। स्पर्श, स्वाद, गंध, वर्ण एव शब्द के गुणों से पुद्गल को सायुज्य किया गया है।

किन्तु इन्द्रिय गम्यता से जाने गए भौतिक स्कन्धो की सरंचना परमाणुओ से मानी गई है। वह यही लोक की परमाणु संरचना है जो जैन भौतिकी का रोचक भाग है। (न्याय और वैशैषिक सप्रदायो मे भी पारमाण्विक सरचना का सिद्धान्त प्रमुख है) आधुनिक भौतिकी के पदो मे साम्य लिए परमाणु को परिभाषित किया गया है। यद्यपि आधुनिक भौतिकी मे अणु (atom) की अवधारणा मे क्रातिक परिवर्तन हुआ है। तथापि उसे पूर्णत. विनष्ट नही किया गया है। निस्संदेह अणु जटिल रूप मे इलेक्ट्रानों का समूह है जैसा कि स्वय सौर्यमडल है। परन्तु आण्विक अवधारणा पर आधारित भौतिकी एव रासायनिको के नियमो को रेडियो सक्रियता (radio activity) ने बाधित नही किया है। आधुनिक भौतिकी द्वारा जो मात्र एक परिवर्तन किया गया है कि अणु (एटम) सरल और आधारभूत न होकर जटिल और सभवत द्वितीयक (secondary) है। इस जटिल प्रकृति के होते हुए भी वह अपनी विशेषता या एकत्व लिए हुए है। कोई भी आधुनिक भौतिक शास्त्री इस तथ्य को अस्वीकार नही करेगा कि वह भौतिक लोक की रचना की मूलभूत नीव है। वह ऐसा एटम या परमाणु है जो भौतिक रचना का मूल आधार है।

परमाणु न तो उत्पन्न किया जा सकता है न ही नष्ट किया जा सकता है। वह भौतिक लोक का शाश्वत मूलाधार है। समान वर्ग के मूलभूत परमाणुओं द्वारा अनेक प्रकार की सभी भौतिक वस्तुओं की संरचना होती है। परमाणु इद्रियगम्य वस्तु नहीं हो सकता है। वह स्वय इद्रिय अनुभूति के परे होने से और इस प्रकार से वह

व्यावहारिक रूप से अमूर्त जैसा है यद्यपि वह सभी मूर्त वस्तुओं की मौलिक सरचना है। यह प्राथमिक एटम या पौद्गलिक प्रदेश पुद्गल परमाणु समान एटमो को आतरिक रूप से आकर्षित करता है। आण्विक पुज इस प्रकार एटमो के संयोग द्वारा निर्मित होता है। ये आण्विक पुंज स्कध कहलाते है। (येही शब्द बौद्ध दर्शन मे प्रयुक्त हुए है किन्तु कुछ भिन्न अर्थ के साथ) ये स्कध पुनः अनन्त प्रकार के हैं, कोई भी स्कध दो एटमो, अथवा तीन आदि द्वारा यहा तक कि अनन्त परमाणुओ (एटमो) द्वारा सरचित होता है। इस प्रकार प्रत्येक इद्रियबोध गम्य वस्तु कोई स्कध होता है और यहां तक कि सम्पूर्ण भौतिक लोक को कभी–कभी महास्कघ अथवा महासमूह (great aggregate) कहा गया है। भौतिक वस्तुए एटमों अथवा स्कधो के समूह या पुज द्वारा रचित होने से उनके परिवर्तनो का सम्पूर्ण कारण आण्विक या परमाण्विक निर्जरा अथवा बध (disintegrations or aggregation) होता है।

गमन की अवधारणा

भौतिक पदार्थ (पुद्गल) की यथार्थता स्वीकार करने के बाद स्वाभाविक रूप से जैनो ने यथार्थ गमन की सम्भावना को स्वीकार किया। आदर्शवादियो के लिए गमन सदैव एक दुरूह उलझन का विषय रही है। पूर्व और पश्चिम दोनो के आर्दशवादी चिन्तकों ने "माया" अथवा आभास की धारणा मे शरण लेकर अपनी झेंप मिटाई है। पश्चिमी विचारप्रणाली मे उक्त अवधारणा का विशेष महत्व है। (अपने गुरु) **पारमेनिडीज** (Parminides) के अपरिवर्तनशील दुर्भेद्य "निरपेक्ष" के बचाव के प्रयास मे **जीनों** (Zeno) ने गमन की यथार्थता के विरूद्ध चार अकाद्य तर्क प्रस्तुत किए। कई शताब्दियो तक इन्हे अकाट्य समझा गया। ये तर्क किसी न किसी रूप मे काट के विधि–विरोधो (antinomies) तथा हीगेल (Hegel) के द्वन्द्व न्याय (dialectic) मे उपस्थित है। ब्रेडले (Bradley) भी ज़ीनो (Zeno) के बोध का उपयोग करते हैं जब वह उपेक्षित आभासों द्वारा यथार्थता की भर्त्सना करते हैं। जैसा कि बर्ट्रेन्ड रसेल (Bertrand Russell) संकेत करते है कि आधुनिक गणित के प्रकाश में ये तर्क अकाट्य नहीं रह गए है। अतः यथार्थवाद को इस समस्या को हल करने किसी

आशका से पहुच करना आवश्यक नही है। इस प्रकार गमन की यथार्थता को आधुनिक दर्शन के क्षेत्र मे सुदृढ आधार मिल गया है।

इससे अधिक महत्वपूर्ण वह भूमिका है जो इस (गमन की) अवधारणा ने विज्ञान के क्षेत्र मे निभाई है। विज्ञान में यथार्थ का ससार विभिन्न ऊर्जाओं की एक प्रणाली है। विज्ञान की इस गतिशील अवधारणा ने गमन की अवधारणा को नए रूप मे महिमा मडित किया है। ई० माख (E. Mach) और कार्ल पियर्सन (Karl Pearson) जैसे भौतिक शास्त्रियों द्वारा व्यक्त निराधार चेतावनी के बावजूद, प्रकृति के रहस्य की व्याख्या मे गमन की यथार्थता और उसकी महत्वपूर्ण भूमिका पर आधुनिक भौतिकी ने पुनः एक बार और विशेष बल दिया है। भले ही आदर्शवादी तत्त्वमीमासा ने गमन की यथार्थता को सदैव सदेह की दृष्टि से देखा हो पर यथार्थवादी और वैज्ञानिक चितन प्रणालियो ने गमन की यथार्थता का स्वागत किया है।

किन्तु भौतिक वस्तुओ (पुद्गल) की गमन की यथार्थता को स्वीकार करने से पूर्व आकाश की यथार्थता की अवधारणा को ग्रहण करना होगा। इस प्रकार जैन सिद्धान्त मे गमन का सबध आकाश द्रव्य एव दो अन्य विशेष नामधेय द्रव्यो, धर्म और अधर्म से है। हम यहा इन तीनो द्रव्यो–धर्म, अधर्म और आकाश की चर्चा जैन दृष्टिकोण से करेगे।

तत्त्वमीमासा आदर्शवादी चिंतन है अथवा यथार्थवादी इसके निश्चय मे आकाश की यथार्थता का सिद्धान्त निर्णायक भूमिका निभाता है। आश्चर्य है कि भारत मे जैनेतर चितन ने आकाश सम्बन्धी समस्या पर विशेष ध्यान नही दिया है। भारतीय दर्शनो मे अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली दर्शन प्रणाली वेदात मे "आकाश" शब्द का प्रयोग हुआ है। पर वह अग्रेजी के स्पेस और ईथर (space and ether) शब्दो से तटस्थ रूप मे है। आकाश को समझने मे ईथर शब्द का बडा महत्व है। अतीत के जैन चितको को इस बात का श्रेय है कि उन्होने आकाश के जटिल प्रश्न का ठोस समाधान खोजने का साहसपूर्ण प्रयास किया और वह भी अति महान, सफलता के साथ। सम्भवत गणित मे उन की विशेष रूचि होने के कारण यह संभव हो सका। आकाश और काल के प्रश्न का उचित समाधान गणितीय

दर्शन के गहन रूप मे जुडा है। आदर्शवादी तत्त्वमीमासा के नकारात्मक द्वन्द्ववाद की भूल भुलैया से आकाश और काल को निकालकर सन्मार्ग पर लाने का सफल प्रयास आधुनिक गणित ने किया है। विज्ञान और यथार्थवादी तत्त्वमीमासा मे आकाश एक अपरिहार्य विचार–बिदु है। आधुनिक विज्ञान के चमत्कार, आकाश और उसमे जो भी समाविष्ट है उनकी यथार्थता से सम्बद्ध है। अस्तु भारतीय यथार्थवाद मे आकाश यथार्थ ही हो सकता है अन्य कुछ नही। आकाश अनन्त विस्तार है। उसमे सभी यथार्थ अस्तित्व शील पदार्थ समाहित है। अवकाश देने के इस गुण के कारण ही उसमे लोकाकाश नामक एक भाग समाया हुआ है जो अन्य यथार्थ वस्तुओ से युक्त है। यह भाग लोकाकाश है जो लोक का सहविस्तार रूप है। इसके परे अनन्त रिक्त आकाश है जो शुद्ध अनन्त आकाश है।

आकाश की अवधारणा का रोचक पक्ष वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार आकाश, सूक्ष्म आकाशाणुओ (आकाश प्रदेशो) से निर्मित है। आकाशाणु का आकाश के सदर्भ मे वही अर्थ है जो पुद्गल परमाणु का द्रव्य के सदर्भ मे। प्रत्येक आकाशाणु प्रत्येक पुद्गलाणु से सबधित है। प्रतिभू के रूप मे हम आकाश प्रदेश राशि और पुद्गल प्रदेश राशि के मध्य सुविधाजनक आधुनिक अभिव्यजक "एक–एक सवादी सबधानुसार सदृश" उपयोग मे लाया जा सकता है।

जैन चितको ने आकाश की प्रकृति का सुस्पष्ट वर्णन सावधानीपूर्वक पुद्गल द्रव्य से उसकी पृथक विशिष्टता दर्शाते हुए किया है। वह अनेक भौतिक गुणो से रहित है तथा मात्र विस्तार है। उसे विस्तृत वस्तु जगत के साथ अव्यवस्थित रूप से मिलाकर देखने का भ्रम नही पालना चाहिए।

पुद्गल द्रव्य और आकाश भौतिक अवधारणा से सर्वथा विरहित नही है। जैन चितको ने प्रासगिक प्रश्न उठाया है कि परमाणु परस्पर सघनित होकर महास्कध क्यो बनाते है? वे अनन्त आकाश मे बिखर क्यो नही जाते? ऐसा होने पर लोक नही रह जाएगा। यह निश्चित तथ्य है कि लोक की सरचना स्थायी है और लोक सुव्यवस्थित ब्रम्हाण्ड है न कि "अव्यवस्था"। यह तथ्य उस मूल तत्त्व को प्रतिध्वनित करता है जो लोक की संरचना तथा लोक के स्वरूप

को प्रत्याभूति रूप से स्थायी बनाए रखता है। यह नियामक तत्व गतिशील परमाणुओ को लोक के केन्द्र में बाँधे रखता है। इसका कार्य तब स्पष्टत गतिशील परमाणुओ को बधन मे रखकर गति को रोकना है। यह नियामक तत्त्व अधर्म है। पर यदि लोक मे मात्र अधर्म सक्रिय होता तो ब्रम्हाण्ड मे परम विराम होता और लौकिक सरचना स्थिर और जड रूप होती। अत. अधर्म की प्रति–शक्ति रूप धर्म की अनिवार्यता सामने आती है। धर्म का कार्य है पौद्गलिक द्रव्यो को उनके अपने अनुरूप गतिमान अथवा अन्यथा होने की स्वतत्रता बनाए रखना। अतः धर्म द्रव्य अथवा गमन नियामक तत्त्व लोक को अन्यथा परिणामी जडत्व से मुक्त करता है।

गति सहकारी और स्थिरता सहकारी के रूप मे व्यक्त धर्म और अधर्म नामक दो तत्त्व, ईथर की आधुनिक अवधारणा पर प्रयोज्य होते है। धर्म और अधर्म लोक के भीतर आकाश तक व्याप्त है। ये दोनो तत्त्व स्वरूप मे पूर्णतः अभौतिक एव सरचना मे अपरमाण्विक (अप्रदेशी) तथा अखड अविविक्त है। पुद्गल के गुण उनमे नही पाए जाते है। उनकी रचना उस आकाश के समान भी नहीं है जो आकाशाणुओ से निर्मित है। ये दोनो भौतिक मूल तत्त्व (द्रव्य) पूर्णत. सरल है। अत. उन्हे एक भी कहा जा सकता है और अनेक भी। वे आकाशीय भी है और आकाश रहित भी है। वे अमूर्त और अरूपी है। न वे हल्के है और न भारी। वे इद्रियगोचर भी नही है। उनका अस्तित्व उनकी क्रियाओ से अनुमानित होता है। इन लक्षणो से युक्त ये दो नियामक तत्त्व (द्रव्य) जैन भौतिकी में अपना पृथक महत्व रखते है।

पुद्गल और कायिक जीवो मे जो सचलन होता है उसके कारक अभिकरण पूर्णतः अन्य है।

जीवो मे स्वत प्रेरित गमन होता है जबकि पुद्गल अन्य गतिशील पुद्गलो के सघटन से गमन करता है। पुद्गल और जीव के गमन के लिए धर्म को कारण नही मानना चाहिए। इसी प्रकार जब गतिशील वस्तुए विराम अवस्था में आती है तब इसका कारण अधर्म को नही मानना चाहिए। धर्म और अधर्म प्रत्यक्ष कारक क्षमता से रहित है। उनका कार्य सर्वथा अप्रत्यक्ष एव बहिरग है। उनकी

उदासीनता पर जैन चितकों ने विशेष बल दिया है। अत: उनके अर्थ को समझने मे त्रुटि की सभावना नही है। सार रूप मे ये दोनों अनिवार्य भौतिक आधार तत्त्व हैं जिनको स्वीकार किए बिना इस लोक की सरचना और स्वरूप समझ से परे होगे।

जैन तत्त्वमीमांसा

जैन तत्त्वमीमासा मे दो महत्वपूर्ण अवधारणाए हैं जो जैन दर्शन के विद्यार्थियो के लिए जटिल है– अस्तिकाय और द्रव्य। अस्तिकाय एक सयुक्त शब्द है जो अस्ति और काय से मिलकर बना है। अस्ति का अर्थ है अस्तित्वशील या सत्ता और काय अर्थात् विस्तृत माप। अत. अस्तिकाय का अर्थ हुआ विस्तृत आयाम युक्त यथार्थ सत्ता। अन्य (अवधारणा) पद द्रव्य से आशय है वह यथार्थ जो तरल, प्रवाहमान अथवा परिवर्तनशील है। हम यहा दोनो अवधारणाओ की विस्तृत चर्चा करेगे।

अस्तिकाय के पाच प्रकार है– जीव (आत्मा), पुद्गल (पदार्थ), धर्म (गति का नियम), अधर्म (जडत्व का नियम) और आकाश (स्पेस) सम्पूर्ण लोक (अथवा ब्रम्हाण्ड) इन्ही पाच तत्वो से मिलकर बना है। आकाश और पुद्गल यथार्थ व्याप्तियॉ हैं। धर्म और अधर्म परोक्ष रूप मे आकाश से सम्बद्ध है। उनका सहकार आकाश मे है और वह लोकाकाश तक सीमित है। इस प्रकार उन्हे आकाश से संबंधित समझा जा सकता है। अत मे जीवन सामान्यत. शरीर से सायुज्य होता है। जैविक शरीर का निर्माण पुद्गल से होता है। जीव शरीर के माध्यम से सक्रिय होता है। जीव शरीर रूपी भौतिक माध्यम के साथ सस्कारबद्ध हुआ है। इस प्रकार जीवन भी आकाश से संबधित है। अप्रत्यक्षत अथवा प्रत्यक्षत. आकाशत्व से युक्त ये पाच अस्तिकाय ही सम्पूर्ण लोक के संरचनात्मक तत्त्व है।

काल

काल (time) भौतिक लोक का तत्त्व नहीं है पर उसकी चर्चा अप्रासंगिक न होगी। परिवर्तन और गमन की भांति काल भी यथार्थ समझा जाना चाहिए। व्यवहार काल के विपरीत निश्चय काल जो कि यथार्थ है, समयो अथवा कालाणुओ से बनता है। समय, प्रदेश और

अणु जैन मत की विशिष्ट अवधारणाए है और इस सदर्भ में जैन मत को आधुनिक गणित विज्ञान से आश्चर्यजनक समर्थन प्राप्त है।

जैन चिंतकों ने 5 अस्तिकायो से काल की पृथकता स्पष्ट करने के लिए एक महत्वपूर्ण प्रत्यय का प्रयोग किया है। अस्तिकाय व्यापक आयाम है। इस व्यापक आयाम को एक विशिष्ट शब्द "तिर्यक् प्रचय" से अभिहित किया गया है।

जब सरल तत्त्व, कथचित् प्रदेश (बिन्दु) एक श्रेणी मे इस प्रकार व्यवस्थित हो कि प्रत्येक पद अन्य श्रेणी का भी एक अश हो तो हमे एक द्विआयामी श्रेणी प्राप्त होती है जो सम्पूर्ण विस्तार से सुसगत होती है। जहा कहीं भी ऐसा तिर्यक प्रचय होता है वहा अस्तिकाय है। किन्तु काल मे केवल ऊर्ध्व प्रचय होता है। इसके अणु अग्रगामी दिशा मे होते है। इसकी श्रेणी एक आयामी (monodimensional) अथवा रैखिक विन्यास होती है। अत. काल का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष विस्तार नही होता। अतएव काल अस्तिकाय नही है। यद्यपि वह अस्तिकाय नही है, पर वह ऐसा विशिष्ट एव यथार्थ द्रव्य है जो सभी वस्तुओ मे परिवर्तन का सूत्रधार है।

यथार्थकाल के यही विशिष्ट गुण धर्म है। अल्प अथवा दीर्घ अवधि की रूढिगत इकाइयो मे मापे जाने वाले व्यावहारिक काल अथवा सापेक्ष काल से निश्चय काल अभिन्न नही समझना चाहिए।

षट् द्रव्य

द्रव्य पद का आशय उस सत्ता से है जो पर्याय परिवर्तन के बीच भी "स्थायित्व" का विशिष्ट गुण रखती है। यथार्थता सम्बन्धी जैन अवधारणा ऐसी है जो पारमेनिडीय (Parmenidion) प्रकार के स्थायी और अपरिवर्तनशील यथार्थ तथा हरक्लीटीज (Haraclites) के मात्र नित्य प्रवाह (flux) इन दोनो को निषिद्ध करती है। परिवर्तन रहित स्थायित्व तथा आधार (substratum) रहित परिवर्तन मात्र अयथार्थ एव असभव कल्पनाए है। जैन विचार प्रणाली मात्र द्रव्य या गतिशील यथार्थता को स्वीकार करती है तभी द्रव्य वह है जिसमे स्थायी द्रव्यत्व (substantiality) है जो आर्विभाव और तिरोभाव की सतत परिवर्तनीयता द्वारा प्रकट होता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य

यथार्थ के तीन गुण हैं। मात्र अवशायीसारूप्य को महत्वपूर्ण मानने से यथार्थ ब्रह्मा की वेदातीय अवधारणा खडित होती है। केवल परिवर्तन पर बल देने से बौद्धो का क्षणिकवाद सामने आता है। वहां यथार्थता एक क्षणिक और असंतत तत्त्वों का प्रवाह है। द्रव्य की अवधारणा इन दोनो पक्षो पर पुनर्विचार कर उन्हे एक जीवत इकाई के रूप मे संयोजित करती है। द्रव्य की अभिन्नता, भिन्नता मे प्रकट होती है तथा परिवर्तन (अनित्यत्व) के बीच उसका स्थायित्व (नित्यत्व) बना रहता है। यह अवधारणा हीगेल के दर्शन की अपेक्षा जैविक विकास की आधुनिक अवधारणा के अनुरूप है। द्रव्य में समयावधि है, क्रिया है, स्फूर्त (elanvital) है। पाच अस्तिकाय और काल ये छ द्रव्य है जो यथार्थ अस्तित्व है।

द्रव्य, गुण और पर्याय

यथार्थ विषयक जैन अवधारणा से परिचित होने के बाद हम यथार्थ के क्षेत्र मे अन्य विशिष्टताओ का अध्ययन करेगे। द्रव्य सदैव निश्चित अन्तर्भूत एव असक्राम्य गुणो से सयोजित होता है। पीत वर्ण एव आघातवर्धनीयता आदि स्वर्ण द्रव्य के गुण है। अपने असंक्राम्य गुणो से युक्त द्रव्य, किसी अवस्था या रूप मे रहना चाहिए। यह अवस्था ही पर्याय है। पर्याय परिवर्तनशील होती है। एक पर्याय नष्ट हो सकती है और अन्य पर्याय प्रकट हो जाती है। यह परिवर्तन अर्थात् उत्पाद और व्यय की प्रक्रिया मात्र पर्याय तक ही सीमित है न कि द्रव्य मे जो कि तात्विक पदार्थ है। द्रव्य को न तो उत्पन्न किया जा सकता है और न विनष्ट। वह शाश्वत है।

पश्चिम मे स्पिनोजा की द्रव्य, गुण एव पर्याय विषयक अवधारणा लगभग समानान्तर है। यद्यपि स्पिनोजा ने केवल एक द्रव्य को माना है जबकि हमारे यहा छ· विभिन्न द्रव्यो के अस्तित्त्व को स्वीकारा गया है। स्पिनोजा ने attribute नामक पद का तकनीकी अभिप्राय मे प्रयोग किया है जो जैन तत्त्व मीमासा मे मात्र गुण के समानार्थी है। प्रत्येक यथार्थ द्रव्य मे उसके निजी उपयुक्त गुण होते है। पुद्गल मे स्पर्श, स्वाद आदि इद्रियगोचर गुण होते हैं। आत्मा में चेतना होती है। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों में भी। द्रव्य और गुण में क्या संबंध है? आधुनिक तत्त्वमीमांसा में भी यह एक महत्वपूर्ण

समस्या है। दार्शनिकों ने दो भिन्न उत्तर दिए है। एक उत्तर मे यथार्थ के नित्य आधार पर बल दिया गया है तो दूसरे उत्तर में सतत परिवर्तनशीलता (अनित्य) के गुण को सब कुछ माना गया है। पहला समाधान परिवर्तन को केवल मौया (आभास) मानकर अवमूल्यित करता है जबकि दूसरा समाधान स्थायी (नित्य) आधार को मात्र कल्पनाजन्य प्रत्यय मानकर नकारता है। फलस्वरूप प्रथम मत यथार्थ को अज्ञात और अज्ञेय स्वीकार कर अज्ञेयवादी हो जाता है तथा दूसरा मत संशयवादी होकर जीवन और जगत के धर्म और नैतिकता के मूलभूत प्रश्नो को सदेह के प्रवाह मे बह जाने देता है। भारत मे अद्वैत वेदात पहले मत का (प्रतिनिधि) उदाहरण है जबकि बौद्ध दर्शन दूसरे मत का। पश्चिम मे **लॉक** (Locke) और **कांट** (Kant) पहले मत के तथा ह्यूम (Hume) दूसरे मत के प्रतिनिधि दार्शनिक है।

इस द्रव्य और गुण के प्रश्न पर **ब्रेडले** (Bradley) ने एक बार फिर विचार किया और अपने तीक्ष्ण विश्लेषण के बाद समाधान दिया कि प्रश्न असमाधेय है। उसी की भाषा मे अपने गुणो से युक्त पदार्थ स्वतोविरोधी (self-contradictory) होता है अत. पदार्थ मात्र आभास है। यह निष्कर्ष स्पष्टत विज्ञान और सामान्य बोध के विपरीत है। पदार्थत्व (द्रव्यत्व = thinghood) अन्तत स्वतोविरोधी धारणा नही है। जैन दर्शन मे द्रव्य एक मूलभूत अवधारणा है। द्रव्य गतिशील सत्ता के रूप मे निरतर प्रवाहमान है। द्रव्य का अपने गुणो से पृथक् कोई अस्तित्व नही है उसी भॉति जैसे कि गुणो की द्रव्य से पृथक् कोई अभिव्यक्ति नही है। गुण रहित द्रव्य मात्र शून्य अमूर्तता है। गुण स्वय में क्षणिक उडनशील सवेदनाए मात्र नही है। द्रव्य गुणो मे तथा उनके द्वारा ही अवस्थित है, तथा गुण सम्बद्ध तथा सगठित होकर द्रव्य के घटक रूप होते है। द्रव्य और गुण में जो अतर है वह मात्र साकेतिक है, अस्तित्वगत नही। जैन तत्त्वमीमांसा की अपनी विशिष्ट शब्दावली में द्रव्य और गुण का अन्यत्व व्यपदेशमात्र है। उनमें प्रदेश पृथकत्व नही होता। अत. यथार्थः भिन्न सज्ञा और निर्देश के होते हुए भी वे दोनों एक ही है।

पर्याय ऐसा पारिभाषिक पद है जिसे समझने मे सावधानी आवश्यक है। पर्याय का अर्थ है अस्तित्व का रूप। इसे भी दो पहलुओं

से देखा–परखा गया है– अर्थ पर्याय और व्यजन पर्याय। हम पहले ही स्पष्ट कर चुके है कि द्रव्य की अपनी सत्ता है, जिसमे निरतर परिवर्तन होते रहते है। जन्म और मृत्यु, सृजन और विनाश की प्रक्रियाओं से गुजरते हुए, त्रिविधि प्रकृति युक्त यथार्थ स्थायित्व द्रव्य को प्रति क्षण विशिष्ट पर्याय प्रदान करता है। यथार्थ का सतत प्रवाह कालावधि के सतत प्रवाह के समानान्तर होता है। द्रव्य का अन्तर्भूत परिवर्तन अर्थपर्याय कहलाता है। सभी छ. द्रव्यो मे अर्थपर्याय होता है। व्यजनपर्याय क्या है? द्रव्य के सतत प्रवाह का यह मात्र प्रारूपी अश नहीं है। व्यजन पर्याय अस्तित्व की सुनिश्चित अवधि है। पुद्गल में प्रति समय घटित आण्विक सयोजन और विघटन के सिवाय किसी कालावधि मे पौद्गलिक पदार्थ एक विशेष रूप उदाहरणार्थ पात्र का आकार ग्रहण कर लेता है। यह पात्र की पर्याय पुद्गल की व्यजन पर्याय है। इसी प्रकार जीवन मे जीव की चेतना मे निरतर परिवर्तन जीव की अर्थपर्याय है। किन्तु जीवन का मनुष्य अथवा देव के विशिष्ट पर्याय में निर्धारक आयु तक अस्तित्व जीव की व्यजनपर्याय है। इस प्रकार जीव और पुद्गल मे दोनो प्रकार की पर्यायें पाई जाती है जबकि शेष चार द्रव्यो मे केवल अर्थपर्याय होती है। यथार्थ अपने छ. द्रव्यो के माध्यम से उनके संबधित गुणो और पर्यायों सहित नि शेष रूप अभिव्यक्त होता है।

क्योकि ये छ द्रव्य यथार्थ है अत उनकी सत्ता अथवा अस्तित्व ही उनका सामान्य लक्षण है। इस दृष्टि से, सभी द्रव्यो को एक ही सवर्ग मे रखा जा सकता है। यद्यपि सवर्ग की दृष्टि से सभी द्रव्य एक हैं तो भी सत्ता को, जो कि द्रव्यो का सामान्य लक्षण है, ऐसे एकात्मिक तत्त्व के रूप मे निरपेक्ष रूप से स्वीकृत और अभिगृहीत नही किया जा सकता जिसके अन्य द्रव्य विभिन्न पर्याय है। ऐसी एकात दृष्टि असगत और भ्रातिपूर्ण रूप में निन्दित होगी। सभी छ द्रव्य सत्ता के सामान्य लक्षण के होते हुए भी, मौलिक तथा एक दूसरे में अलघुकरणीय है।

इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व एक और बिन्दु विचारणीय है। इस मूर्त लोक मे कोई वस्तु किसी न किसी द्रव्य की कोई पर्याय है। इसे अर्थ भी कहा जा सकता है। अर्थ अथवा वस्तु

अनन्तगुणो का समाहारी समुच्चय है जैसे लोक अथवा सृष्टि अनन्त अर्थों से निर्मित व्यवस्था है। एक विस्तार है तो दूसरा सघनता किन्तु दोनों अनन्त सम्पूर्णताएं हैं। जैन दर्शन के अनुसार, द्रव्य, लोक आदि को पूर्णतः समझने के लिए एक अतहीन विचारदृष्टि की आवश्यकता है। जो किसी अर्थ अथवा एक वस्तु को समग्रतः नहीं जानेगा वह सम्पूर्ण लोक को नही जान पाएगा और जो सम्पूर्ण लोक को नही जानेगा वह एक वस्तु को समग्रत. और यथार्थतः नही जान पाएगा। जैन चितको का यह विशिष्ट रूझान हमे टेनीसन (Teneyson) की पक्तियॉ याद दिलाता है–

यदि मैं तुम्हारी जड को
जान सका,
मै जान लूगा सब–
क्या है ईश्वर
और क्या है
मनुष्य। (A flower in the crannied wall).

सामान्यत द्रव्यो की चर्चा करने के पश्चात् आइये, अब हम जीव द्रव्य की विस्तृत विवेचना करे।

जैन जीव-विज्ञान

सभवत विवेचित चितन प्रणाली मे जीव विज्ञान की चर्चा करना ठीक नही है। जीव विज्ञान आधुनिक युग का शास्त्र है, अत ईसा पूर्व शताब्दियो मे जो कि प्लेटो और अरस्तु के समय की बात है, आधुनिक वैज्ञानिक अवधारणा की आशा करना बहुत उचित नही होगा। स्वाभाविक है कि जैविक ससार सबधी मत विविध पौराणिक और स्वर्ग नर्क विषयक कल्पनाओं के साथ विलक्षण रूप में सम्मिश्रित हो गए है। सारी असंगत बातो को विलोपित करने के बाद भी हमे पर्याप्त सामग्री मिलती है जिससे जीवन और जीवो के सबंध मे प्राचीन सिद्धान्तो की अन्तर्दृष्टि की पूर्ण जानकारी मिलती है।

एक महत्वपूर्ण अवधारणा, जो पाठको को प्रारंभ मे ही प्रभावित करेगी, वनस्पति जगत और जन्तु जगत की जैविक एकता को लेकर है। वनस्पति जगत भी स्पष्टतः जैविक है। वनस्पतियो की

प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण किया गया एवं सावधानीपूर्वक वर्णन भी किया गया। सभी पादपो को स्पर्शेन्द्रिय सहित एक इद्रिय जीवो की कोटि मे रखा गया। जन्तुओ और कीटो को भी इद्रियो के आधार पर वर्गीकृत किया गया है। केचुआ जैसे छोटे प्राणी से लेकर मनुष्य तक तिर्यच प्राणि जगत को चार प्रमुख वर्गों द्विइद्रिय, तीन इद्रिय, चार इद्रिय और पॉच इंद्रियों मे विभाजित किया गया है।

जीव के साथ सायुज्य प्राण जो कि जीवित प्राणियो का अनिवार्य लक्षण है, महत्वपूर्ण अवधारणा है। प्राणो के चार रूप है– बल, प्राण, इद्रिय प्राण, आयु प्राण, उच्छवास–निश्वास प्राण। प्रत्येक जीवधारी मे स्वत स्फूर्त सक्रियता की निश्चित क्षमता अन्तर्निहित होती है। इस क्रिया सामर्थ्य को बल प्राण कहते है। प्रत्येक जीवधारी मे इद्रिय परिज्ञान पाया जाता है। जीव, इद्रियो के माध्यम से अपने परिवेश के बारे मे जानकारी एव अनुभव ग्रहण करते है। जीवो मे इद्रियागो की सख्या जैविक विकास के अनुसार भिन्न–भिन्न होती है। आयु प्राण का आशय है जीवन की अवधि। प्रत्येक जीवधारी के जीवन की अवधि सीमित होती है। अतः सीमित अवधि तक जीवन को धारण किए रहने की क्षमता आयु प्राण है। कोई भी जीवधारी श्वसन अर्थात् उच्छवास निश्वास के बिना जीवित नही रह सकता। इस प्रकार ये चार प्रमुख प्राण सभी सजीवो के अनिवार्य अवयव है।

विभिन्न प्रकार के जन्म

एक और रोचक तथ्य है – जीवधारियो के जन्म की गणना की विभिन्न विधिया। शिशु का जन्म गर्भ या कोख से हो सकता है। ये गर्भज प्राणी है। कुछ जीवधारी अडज होते है जो अडे से उत्पन्न होते हैं। तीसरा प्रकार है सम्मूर्च्छन अथवा स्वत. प्रजनन। यह केवल सूक्ष्म जीवो मे पाया जाता है। अतिम प्रकार है देवो और नारकियो मे पाया जाने वाला जन्म जिसे औपपादिक कहते है। यह अतिम प्रकार का जन्म निश्चित ही वैज्ञानिक परिधि मे नही आता। सम्मूर्च्छन विधि का प्रजनन विशेष महत्व का विषय है। (द्विविभाजन, बीजाणु जनन आदि अलैगिक प्रजनन विधिया सम्मूर्च्छन प्रजनन के अंतर्गत समझी जाना चाहिए – अनुवादक)।

अतिसूक्ष्म जीव

यह ध्यान देने योग्य दूसरा तथ्य है कि जैनों ने काफी पहले सूक्ष्म जीवो के अस्तित्व को पहचाना। ये सूक्ष्म जीव एकेन्द्रिय होते है। भूमि, वायु, जल और अग्नि को भरने वाले असख्य सूक्ष्म जीव (उसी काया रूप मे) उपस्थित है। अग्नि मे सूक्ष्म जीवो की उपस्थिति की सभावना किचित कल्पना दिखाई देती है। किन्तु अन्य तीन अवस्थाओ मे सूक्ष्म जीवो की उपस्थिति आधुनिक विज्ञान द्वारा सिद्ध की जा चुकी है, यह बिना झिझक कहा जा सकता है।

इस तारतम्य मे यह रेखाकित किया जाना आवश्यक है कि **एच० जकोबी** (H. Jocobic) का अनुमान है कि जैन धर्म बहुत प्राचीन है, ऐतिहासिक सच होने पर भी जीव निकाय सबधी अकारण सिद्ध की हुई कल्पना पर निर्भर करता है। तत्वार्थाधिगम के अनुवाद मे वह व्याख्या करते है कि जल, वायु, भूमि और अग्नि में जीवो की उपस्थिति के सिद्धात से प्रमाणित होता है कि जैन धर्म भारत मे अन्धविश्वासी वस्तुपूजा का, जिसके अनुसार भूमि, वायु आदि मे भी आत्मा होती है, प्रवर्तक है अथवा कभी था। यदि यह सच था तो सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव कहने से क्या आशय है? जीव और अजीव, चेतन और अचेतन मे भेद करने का क्या अर्थ है?

उपर्युक्त विभिन्न जीवधारी आत्मा अथवा जीव और पुद्गल अथवा भौतिक पदार्थ के साहचर्य के परिणाम है। यदि तत्वमीमासा की इस पद्धति को समग्रत देखा जाए तो ऐसा चित्र दिखाई देगा जिस मे अनन्तानन्त जीव पुद्गल के जाल मे घिरे हुए है। आत्माए आवरित है आत्मारहित परिवेश से। यह चित्र साख्य के ब्रम्हाण्ड परिदृश्य के समरूप है। असख्य पुरूष जलमग्न है प्रकृति के समुद्र मे और सब प्रवृत्त है अलग–अलग प्राकृतिक विकास क्रम के प्रवाह मे। किन्तु पुरूषो के परिवेश की रचना एक समांग प्रकृति से न होकर पाच अजीव द्रव्यो से होती है जो आत्मा के चेतनापूर्ण नाटक की अभिव्यक्ति हेतु उपयुक्त रगमच तैयार करते है। इस नाट्य के प्रारभिक पात्र है– जीव और पुद्गल। अन्य पात्र नाटक–विस्तार में सहायक है। सम्पूर्ण लोक का विकास क्रम आत्मा और पुद्गल की पारस्परिक प्रतिक्रिया (interaction) का परिणाम है। जैन चिंतन के

अनुसार जीव का पुद्गल के आवर्त्त मे उलझाव ही ससार है। अचेतन पुद्गल के अतिसूक्ष्म कणो (परमाणु व स्कंधों) से लोकाकाश भरा हुआ है। पुद्गल का यह रूप कर्म प्रायोग्य पुद्गल कहलाता है। इस लोकाकाश मे जीव भी है। अन्तस् की अशुद्धता के कारण जीव पुद्गल के सूक्ष्मकणो का कोकून (कवच) अथवा कर्म शरीर निर्मित करता है जो आत्मा की अन्तश्चेतना के प्रकाश को विकीर्ण होने से विमंदित करता या रोकता है। एक बार पुद्गल के कण एकत्र होना प्रारम्भ हो जाएँ तो क्रमशः पुद्गल कणो की सघनता बढती जाती है और अन्तत मनोभौतिक नियमानुसार जैविक शरीर की रचना अपरिहार्य हो जाती है। यहा एक महत्वपूर्ण बिदु विचारणीय है। **हर्मन० जी० जैकोबी** जैसे महान् प्राच्यविद्या अध्येता ने सदिग्ध और भ्रामक व्याख्या की है कि कर्म सर्वथा पौद्गलिक है तथा जैन मत के अनुसार चूकि जीव और कर्म का सयोग होता है अत आत्मा भी एक प्रकार का सूक्ष्म पुद्गल है जो जीव और कर्म के सयोजन को सभव बनाता है। यह व्याख्या सर्वथा भ्रामक और सत्य से परे है। आत्मा और पुद्गल (देह) के बीच न तो सयोजन है और न प्रत्यक्ष कारणात्मक संबंध। जैनो ने द्रव्य कर्म से पृथक भाव कर्म की चर्चा की है। भाव कर्म एक मनोवैज्ञानिक प्रत्यय है जो जीव से सीधा सबधित है जबकि द्रव्य कर्म का सबध शरीर निर्माण से है। निस्सदेह, दोनो एक दूसरे से सायुज्य है पर वे विशिष्ट और पृथक्–पृथक् है। जीव चेतन है जबकि शरीर अचेतन है।

ससार का यह सयुक्त स्वरूप अनादि है। यद्यपि आत्मा हृदय के सहजात विकारो मे लिप्त होने से अनादिकाल से इस अशुद्ध पर्यावरण के ससार मे भटक रही है। किन्तु इस त्रासद अवस्था से मुक्ति सभव है। अन्तस् की निर्मलता से प्राप्त आत्मिक स्वतंत्रता और पूर्णता ही ससार चक्र का अंत है जिसमे पौद्गलिक बधन से जीव को छुटकारा मिल जाता है। अस्तु, ससार में आत्मा के बार–बार जन्म लेने की अनादि अनन्त परम्परा है पर इस का अंत है– मोक्ष।

जैन मनोविज्ञान

जैन चितन प्रणाली की केन्द्रिय अवधारणा है– जीव। जीव की प्रकृति जीव और चेतन का सहअस्तित्व है। जहां जीवन है वहा

चेतना है। निम्नतम स्तर के प्राणियों मे भी चेतना या सवेदनशीलता पाई जाती है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि प्रत्येक प्राणी मे समान विकसित और स्पष्ट चेतना होती है। निम्न स्तर के प्राणियों मे चेतना अस्पष्ट और अव्यक्त होती है जबकि मनुष्य की चेतना सामान्यत. सुविकसित होती है और उच्च आत्मिक विकास को उपलब्ध कुछ विशिष्ट जनों की चेतना परासामान्य होती है।

चेतना लक्षण से युक्त जीव पुद्गल से सर्वथा पृथक् है। जीव अमूर्त है और उसे इद्रिय बोध के माध्यम से अनुभव नही किया जा सकता है पुद्गल के सामान्य गुण जैसे रग, स्वाद, आदि चेतना मे नही होते।

इस तरह जैन मनोविज्ञान चेतनागुण सम्पन्न जीव की तत्त्वमीमांसीय धारणा पर आधारित है। यह आत्मा रहित मनोविज्ञान नही है। चेतना की दो स्वाभाविक अभिव्यक्तिया है। – दर्शन और ज्ञान। चेतना के ये दोनो अभिव्यक्ति रूप मुख्यत. परिज्ञानात्मक अथवा विचारतत्त्व है। सवेग और इच्छा चेतना के ही भाग है। प्रभावी और क्रियात्मक तत्वो को भी जैन चितन मे स्वीकार किया गया है। ससारी जीव (सामान्य अर्थ मे सभी सजीव) के सामान्य लक्षण है – राग (मोह) और सवेग अवस्थाए। आचरण अथवा व्यवहार भी जीव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। चरित्र भी ससारी जीवो के साथ जुडा है। अत आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से चेतना के कार्य व्यवहार त्रिपक्षीय है और जैन चितन मे भी इन्हे माना गया है।

चेतना का यह त्रिपक्षीय विभाजन अन्य रूप मे भी व्यक्त किया जाता है। जीव के लक्षणो की व्याख्या के तारतम्य मे स्पष्ट किया गया है कि चेतना मात्र ज्ञान और दर्शन के माध्यम से ही प्रस्तुत नही होती प्रत्युत कर्म चेतना एव कर्मफल के रूप मे भी प्रकट होती है। चेतना के इस त्रिपक्षीय सिद्धात की पुष्टि अरिहत अवस्था को प्राप्त व्यक्तियो के माध्यम से भी की जा सकती है। अरिहत (परम अवस्था को उपलब्ध) के लक्षण है – अनत ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनतसुख। कुछ और लक्षण भी है जिनका उल्लेख यहा प्रासगिक नही है। प्रथम दो अनन्तज्ञान और अनन्त दर्शन स्पष्टत परिज्ञानात्मक है, अनतवीर्य क्रियात्मक लक्षण है तथा अनन्त सुख प्रेम

अनुभूति मूलक लक्षण है। इस प्रकार जैन मतानुसार जीवन मे चेतना के तीन पक्ष है।

आत्मा और शरीर

प्रत्येक जीवधारी दो पृथक सत्ताओ जीव और पुद्गल–द्रव्यों अथवा आत्मा और शरीर के सयोग से बनता है। स्वाभाविक है कि इन दोनो के बीच का सबध एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। आत्मा चेतन, अमूर्त और अरूप है जबकि शरीर के गुण सर्वथा विपरीत है। एक दूसरे का प्रतिलोम है । कार्तीयवाद के अनुसार यहा पर भी द्वैतवाद की प्रभावशाली अभिव्यक्ति है।

पुद्गल शरीर शब्द के दो भिन्न रूप है। एक स्थूल पुद्गल शरीर जिसे हम अपनी इन्द्रियो से ग्रहण करते है। यह भोजन के रूप मे लिये गये पुद्गल से निर्मित और पोषित है। यह शरीर प्रतिक्षणं परिवर्तनशील है और निश्चित अवधि के बाद आत्मा द्वारा छोड दिया जाएगा। इस स्थूल शरीर के अतिरिक्त प्रत्येक जीवधारी के साथ एक सूक्ष्म शरीर "कार्माण शरीर" भी है। यह सूक्ष्म शरीर कर्म पुद्गल के सूक्ष्म अणुओ से बना है। यह भी परिर्तनशील है किन्तु ससारी जीव का अनिवार्य और असक्राम्य भाग है। मात्र सिद्ध अवस्था मे ही यह विच्छिन्न होता है। कर्मशरीर की अवस्था और जीव की अवस्था के परस्पर सबध की विवेचना करते हुए जैन मत मे उपादानकर्त्ता और निमित्तकर्त्ता के महत्वपूर्ण भेद को स्पष्ट किया गया है। मानसिक दशाए मन के रूपान्तर है जबकि शारीरिक दशाए पुद्गल के रूपान्तर है। मनोदशा का उपादानकर्त्ता मन है तथा शारीरिक परिवर्तनो का उपादानकर्त्ता पुद्गल है। तथापि शारीरिक दशाए तथा मनोदशाए दोनो पारस्परिक बहिरग उपाधियां है। नैमित्तिक क्रियाशीलता जिसकी यहा अपेक्षा है, किचित् अस्पष्ट है। एक मनोदशा का कारण सन्निकट पूर्ववर्ती मनोदशा है। इसी प्रकार एक शारीरिक दशा का कारण उसकी सन्निकट पूर्ववर्ती शरीर दशा है। अतः मनोदशाओ की क्रमिकता शरीर दशाओ की क्रमिकता से एक प्रकार से स्वतन्त्र है। किन्तु मानसिक परिवर्तन को बहिरग रूप मे शारीरिक परिवर्तन द्वारा निर्धारित किया जा सकता है और शारीरिक परिवर्तन को मानसिक परिवर्तन द्वारा। मानसिक और

शारीरिक पौद्गलिक का सम्बन्ध पूर्णतः बहिरंग है। जैन मत की अपनी विशिष्ट शब्दावली मे एक दूसरे का निमित्तकर्त्ता है। अतः जहां तक हम समझते है मनोदशा मे परिवर्तन के दो कारण हैं, एक उपादानकर्त्ता जो कि पूर्ववर्ती मनोदशा है तथा दूसरा निमित्तकर्त्ता जो कि पूर्ववर्ती शारीरिक दशा है। दोनो पूर्ववर्ती दशाओ के परिणाम स्वरूप मानसिक परिवर्तन होता है। इसी प्रकार शारीरिक परिवर्तन के पीछे भी दो कारण है एक उपादानकर्त्ता जो कि शरीर की ही सन्निकट पूर्ववर्ती दशा है तथा दूसरा निमित्तकर्त्ता जो कि सन्निकट पूर्ववर्ती मनोदशा है।

जैन चितन मन और पुद्गल शरीर के मध्य कारणात्मक अन्तर्सम्बन्ध (inter relation) पर जोर देता है। यद्यपि यह अन्तर्सम्बन्ध बहिरग उपाधि है, इस अन्तर्सम्बन्ध को स्वीकारने का कारण है नैतिक उत्तरदायित्व की सत्यता को स्वीकारना। यदि मन और पुद्गल शरीर के बीच कोई कारणात्मक अन्र्तसम्बन्ध न हो तो कोई व्यक्ति अपने आचरण के प्रति नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी क्यो रहेगा? यदि नैतिक उत्तरदायित्व यथार्थ है, यदि आचरण का नैतिक मूल्याकन विशुद्ध है तब व्यक्ति का आचरण ही उसके अन्तरग व्यक्तित्व की आत्मीय अभिव्यक्ति होगी। यद्यपि जीव और कार्माण शरीर के सम्बन्धो की प्रस्तुत विवेचना की जा रही है, तथापि यह विवेचन और उसका निष्कर्ष हमारे मूल प्रश्न आत्मा और शरीर के सबध से भली–भाति सम्बद्ध है। सम्पूर्ण विवेचना एक व्यापक प्रश्न के सदर्भ मे दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। आत्मा और शरीर मे उपादाननिमित्त नैमित्कि (कारणात्मक) अन्तर्सम्बन्ध का विधान पाया जाता है और किसी एक मे होने वाला परिवर्तन दो सन्निकट पूर्ववर्ती पौद्गलिक शारीरिक और मानसिक को आवेष्टित करता है। यदि कारणात्मक अन्तर्सम्बन्ध को मान्यता न दी जाए तो निश्चित है कि नीतिशास्त्रीय मूल्य अव्याख्यायित एवं अबोधगम्य हो जाएगे।

संवेदन और इंद्रियांग

इंद्रियांगों की संख्या साधारण रूप से 5 मानी गई है। कभी–कभी मानस या मन (mind) को भी इद्रिय कहा जाता है। इद्रियॉं सामान्यतः दो प्रकार की है – द्रव्य इंद्रिय अर्थात् शारीरिक इंद्रियाग

तथा भाव इद्रिय अर्थात् मानसिक (चेतना) अनुभाग। द्रव्य इद्रिय एव संवेदित पौद्गलिक वस्तु के सम्पर्क से सवेदनशीलता फलित होती है। निश्चित ही माना जा सकता है कि हमारी संवेदना केवल पुद्गल का ही बोध करती है। यह सम्पर्क प्रत्यक्ष भी होता है और अप्रत्यक्ष भी। दृश्य के प्रसंग मे सम्पर्क अप्रत्यक्ष होता है क्योंकि देखी गई वस्तु आंख के सम्पर्क में नही आती। आकाश के पिड हमे प्रकाश अथवा ज्योति के कारण दिखाई देते है। ज्योर्तिमान होने के कारण ही वे दृष्टिगोचर होते है। आखो पर प्रकाश की सटीक प्रक्रिया की इसके आगे कोई व्याख्या नही की गई। अन्य इंद्रियो के साथ वस्तु का सम्पर्क प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थूल या सूक्ष्म हो सकता है। स्पर्श अथवा स्वाद में स्थूल वस्तु से इद्रियाग का सीधा सम्पर्क होता है। किन्तु गध की अनुभूति मे हमारा सम्पर्क गंधयुक्त वस्तु के सूक्षम कणो से होता है। ध्वनि का बोध भी सूक्ष्म–सूक्ष्म तरगो के सम्पर्क से होता है। पर ध्वनि मे हमारी श्रवणेन्द्रिय का सम्पर्क जिससे होता है वह एक प्रकार का गमन (तरग) है। अन्य भारतीयचिंतन पद्धतियो मे ध्वनि को आकाश का सहचर माना गया है पर इससे भिन्न जैन चितन मे एक पुद्गल से दूसरे पुद्गल के टकराव को ध्वनि उत्पत्ति का कारण बतलाया गया है। एक स्कध के दूसरे स्कध से टक्कर होने पर ध्वनि उत्पन्न होती है। इस टक्कर से उत्पन्न आन्दोलन ही ध्वनि है। इस ध्वनि सिद्धान्त के कारण ही जैन चिंतन मे परमाणु को स्वय ध्वनि रहित कहा गया है। इन सभी पक्षो मे पर्यावरणीय उत्तेजना प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः पौद्गलिक वास्तविकता है। इद्रिय बोध दो पौद्गलिक वस्तुओ–द्रव्येन्द्रिय और बोधित वस्तु की उत्तेजना के सम्पर्क का फल है।

संवेदनाओं का विश्लेषण

विभिन्न इद्रियागों के द्वारा ग्रहीत विभिन्न संवेदनाओ का विश्लेषण एक रोचक बिन्दु है। आंखो के माध्यम से हमें पाच वर्णो का बोध होता है। दृश्य सवेदना में पांच वर्ण होते हैं। यहां ध्यान देने की बात है कि हम श्वेत को भी वर्णो मे शामिल कर लेते है। इस दृष्टि से वर्ण प्रत्यय का प्रयोग उसके प्रचलित अर्थ मे किया जाता है, वैज्ञानिक अर्थ मे नही। इसी प्रकार स्वाद के पाच भेद है – तीक्ष्ण,

(तिक्त) कटु, मिष्ठ, अम्लीय और लवणीय। इन पाचो को जिव्हा से अनुभव किया जाता है जोकि रसनेन्द्रिय है। त्वचा स्पर्शेन्द्रिय है जिसके माध्यम से अग्रलिखित् आठ प्रकार के त्वचीय सवेदन ग्रहीत होते है – हल्का अथवा भारी, कोमल अथवा कठोर, खुरदुरा अथवा चिकना, तथा गर्म अथवा ठडा, जो विपरीत सवेदनो के चार युग्म है। इन त्वचीय सवेदनो मे तापक्रम, सम्पर्क, दबाव और पेशीय अथवा गमन बोधक सवेदन भी सम्मिलित है। गध का सवेदन मात्र दो प्रकार का है सुगध और दुर्गन्ध। ध्वनिया, प्राकृतिक – कृत्रिम, सोद्देश्य–निरूद्देश्य, स्पष्ट–अस्पष्ट लयात्मक–(musical)–अलयात्मक इत्यादि।

इंद्रिय बोध

इद्रियाग के माध्यम से हम जो प्रत्यक्ष ग्रहण करते है वह मात्र विशेष सवेदन नही होता वरन् वस्तु बोध भी होता है। इद्रिय बोध को दर्शन के रूप मे जाना जाता है। दर्शन पौद्गलिक वस्तु का बोध है। दर्शन चाक्षुष भी हो सकता है और अचाक्षुष भी। चक्षु दर्शन का अर्थ है किसी वस्तु का बोध दृश्य सवेदन के माध्यम से होना। अचक्षु दर्शन का अर्थ हुआ अन्य किसी इद्रिय के द्वारा बोध गृहीत होना। दर्शन मे मन निष्क्रिय ग्राहकता नही दर्शाता बल्कि ग्रहीत उद्दीपन के प्रति सक्रिय अर्थ निर्णायकता भी प्रदर्शित करता है। अर्थात् दर्शन आधार सामग्री और मानसिक सरचना के अतराल मे फैला जटिल बुनाव है। यह मति अर्थात् साहचर्य से प्राप्त ज्ञान के विकास मे समाहित है। अवग्रह, ईहा, अवाय, इद्रियबोध के विभिन्न चरण है। अवग्रह स्थूल रूप मे आधार सामग्री है। पर आधार सामग्री का कोई अर्थ नही है। वह वर्ण का अज्ञात अश है (दृश्य सवेदन के विषय मे) इस दृश्य अश के सामने आने पर मन जिज्ञासा या प्रश्नाकुलता दर्शाता है, यह प्रवृत्ति ईहा है। इसी के माध्यम से हम वस्तु का अर्थ निर्णय करते है। यह अर्थनिर्णायकता ही अवाय है। दृश्य सवेदन के मामले मे तीनो चरणो को स्पष्टतः नही पहचाना जा सकता किन्तु श्रव्य सवेदन मे इन्हे पृथक्–पृथक् स्पष्टत समझा जा सकता है। दर्शन मे तीनो चरण समाहित होते है और तभी हमे वस्तु का ज्ञान होता है।

ये तीन चरण दर्शन अथवा धारणा से मिलकर मतिज्ञान के विभिन्न रूपो का सघटन करते है। किन्तु धारणा स्मृति से सम्बन्धित है और उसे इद्रिय बोध के अतर्गत लाने की आवश्यकता नही है। इस तारतम्य मे एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर हम ध्यान देंगे। दर्शन प्रत्यय इद्रिय बोध तक सीमित नही है। वह एक सामान्य प्रत्यय है जिसमें इद्रिय बोध के साथ अन्य प्रकारों का असाधारण बोध भी समाहित है। जैन विचारको ने दो प्रकार के असाधारण बोध की चर्चा की है, अवधि दर्शन और केवल दर्शन। अवधि से तात्पर्य एक विशिष्ट प्रकार की अतीन्द्रिय दृष्टि शक्ति (clairvoyant capacity) से है। जिससे व्यक्ति भूत और भविष्य काल मे अवस्थित तथा दूरस्थ स्थानों पर घटित घटनाओ और वस्तुओ के विषय मे जान लेता है। घटनाए और वस्तुए जो सामान्य रूप से इद्रिय गोचर नही होती, अवधि दर्शन से प्रत्यक्ष हो जाती है। अवधि दर्शन मे सुदूर स्थित कालातीत वस्तुएं ऐसे दिखती है जैसे वे हाथ पर रखी हो। कहा गया है कि अवधि दर्शन का सबध रूपी द्रव्यो के बोध तक सीमित है। केवल दर्शन परम अवस्था का बोध है। वह सम्पूर्ण चेतना से होता है। कर्म बधनो से पूर्ण छुटकारा मिलने पर ही केवल दर्शन उपलब्ध होता है। यह पूर्णबोध की अवस्था है जिसमे सम्पूर्ण सत्ता प्रत्यक्ष हो जाती है। साराश मे यह परमात्मा के सर्वगुणो को उपलब्ध हो जाने की स्थिति है। इस प्रकार हमने यहा यह प्रमाणित किया है कि जैन मनोविज्ञान मे सामान्य इद्रिय बोध (चाक्षुष एव अचाक्षुष) तथा असाधारण इद्रियातीत बोध क्या है?

ज्ञान

सज्ञान विषयक जैन विवरण कम रोचक नहीं है। सज्ञान मे प्रयुक्त विभिन्न माध्यमो के अनुसार ज्ञान भी विभिन्न प्रकार का है। (1) मतिज्ञान वह ज्ञान जो इद्रिय बोध के प्राकृत माध्यम से तथा उसीपर निर्भर स्मृति से उपलब्ध होता है। यह सभी व्यक्तियों की सामान्य वंशानुगत उपलब्धि है। (2) श्रुतज्ञान–ग्रंथो के पठन पाठन अथवा श्रवण से प्राप्त ज्ञान है। यह ज्ञान का लिखित रूप है। अतः अध्ययनशील लोगों को ही श्रुत ज्ञान होता है। इन दो ज्ञान–माध्यमों के अतिरिक्त ज्ञान के तीन अतीन्द्रिय माध्यम है ये तीन है –

अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान मे आत्मिक विकास की उच्च स्थिति को प्राप्त व्यक्ति को दूरबोधी अनुभव (telepathy) होता है। इस साधन से वह अन्य व्यक्तियो के मनो को जान लेता है। केवल ज्ञान का अर्थ परम ज्ञान अथवा परमात्मा (पुरूषोत्तम) का सम्पूर्णज्ञान है। इसे तत्वमीमासात्मक आदर्श मानकर, हम अब अन्य चार संज्ञानो की विवेचना करते है जो मनोवैज्ञानिक पक्ष से सम्बद्ध है।

मनोभाव

जैन तत्त्वमीमासा मे मनोभावात्मक चेतना का विशेष स्थान है। सासारिक पदाथो के प्रति रागात्मकता विरति (Stoic freedom) से ही समग्र धार्मिक अनुशासन सुनिश्चित होता है। सुख और दुख की अनुभूति सासारिक जीवो का विशिष्ट लक्षण है। जीव सम्बधी एक श्लोक मे कहा गया है कि जीव सुख देने वाली अनुकूल क्रियाओ मे निरत रहता है तथा दुख देने वाली प्रतिकूल क्रियाओ से सदैव विरत होना चाहता है। यह विचार आत्मरक्षा की प्रवृत्ति विषयक जीव वैज्ञानिक विचार से मेल रखता है। इस गुण से युक्त जीव स्वाभाविक रूप से सुखद वस्तुओ की इच्छा करता है और दुखद वस्तुओ से दूर होना चाहता है।

चूकि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तत्त्वमीमासा से गौण है, मनोवैज्ञानिक महत्त्व के अनेक तथ्य दार्शनिक चितन की पृष्ठ भूमि मे छोड दिए गए हैं। फिर भी जैन चिंतकों द्वारा प्रस्तुत प्रभावपूर्ण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मे कोई त्रुटि नही है। सुख और दुख की अनुभूति हमारी कर्मफल चेतना है। सुख और दुख सदैव कर्म के सदर्भ मे ही दिखाई देते है।

भाव (affective consciousness) के तीन रूप हैं – शुभ भाव, अशुभ भाव और शुद्ध भाव। शुद्ध भाव का अर्थ है स्वयं मे लीन होना। यह शुद्ध आत्मा की आत्मिक अनुभूति का माध्यम है। अन्य दो रूप, शुभ भाव और अशुभ भाव हमारे विचार–बिन्दु से सबधित है। ये मनोविज्ञान के विद्यार्थियो द्वारा मान्य सहज अनुभूतियो के अनुरूप है। ये अनुभूतिया हमारे परिवेश मे उपस्थित पदार्थों से सबधित हैं। इनके प्रति जीव मे आकर्षण या विकर्षण पाया जाता है। इस प्रकार

एक ओर अनुभूतिया कर्मफल की अभिव्यक्ति है तो दूसरी ओर वे ससार के पदार्थों (पर्यावरण) से निर्धारित होती है।

कर्मबध की दशाओ के तारतम्य मे मनोवेगो का रोचक वर्गीकरण किया गया है। मनोवेगो के दो मुख्य प्रकार है – सकषाय जिसमे आत्मा की शुद्धता को मलिन करने की प्रवृत्ति है तथा अकषाय जो ऐसी प्रवृत्ति से रहित है। सकषाय के रूप है – क्रोध, मान, माया और लोभ। अकषाय मनोवेग है– हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद (स्त्री की कामानुभूति), पुरूषवेद (पुरूष की कामानुभूति) एव नपुसक वेद (नपुसको की विकृत कामानुभूति) कुछ और सहजात वृत्तियो, जैसे आहार, भय, मैथुन और परिग्रह, को संज्ञा कहा गया है। इन सहजात कामनाओ से सम्बद्ध अनुभूतियाँ जीव की चेतना को रजित किए रहती है। इद्रिय अवयवो के वर्गीकरण में इद्रियानुभूति का रूप समाहित है, गध और स्वाद मे अनुभूति का पक्ष प्रबल है जबकि श्रवण और दर्शन मे अनुभूति परोक्ष रूप से सहयोजित है। सुख और दुख की अनुभूतिया शुद्धतः तत्त्वमीमासात्मक है अतएव उनमे वैज्ञानिक रूचि कम एवं धार्मिक रूचि अधिक है।

क्रियात्मकता अथवा कर्म चेतना

आत्मा केवल ज्ञाता और भोक्ता नही है प्रत्युत कर्ता भी है। यह सूत्र जैन चितन का केन्द्रीय भाव है। आत्मा अपनी क्रिया से अपनी नियति को बना या बिगाड सकता है। कर्म का सिद्धांत आत्मा की कारणात्मक शक्ति से गहराई से जुड़ा है। इस तत्त्वमीमांसात्मक अनुमान के फलस्वरूप हमे जैन विचार प्रणाली मे मनोवैज्ञानिक महत्व के अनेक तथ्य प्राप्त होते है। निम्नतम स्तर के जीव मे भी सुखद क्रियाओ को जारी रखने और दुखद क्रियाओं से विरत होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। जीव की यह मूल प्रवृत्ति ही उसकी कर्म चेतना है। जो उसे उसका अत या लक्ष्य चुनने की स्वतत्रता प्रदान करती है और यह सकल्पयुक्त क्रियाशीलता का लक्षण है। मनुष्य की कर्मप्रवृत्ति राग और द्वेष से स्वाभाविक रूप से आबद्ध है।

कर्म चेतना त्रस जीवों मे पाई जाती है। एकेन्द्रिय स्थावर जीव (पादप जगत) कर्म चेतना से रहित होते हैं। उनमे मात्र कर्मफल चेतना होती है जबकि अन्य जीवो मे उक्त दोनों के साथ–साथ ज्ञान

चेतना भी होती है। जैन चितन धारा के अन्तर्गत नीतिशास्त्र मे सकल्पयुक्त कर्मचेतना की महत्वपूर्ण भूमिका है। इच्छा के मनोविज्ञान का सबध एक अन्य महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सिद्धात से है। मोहनीय कर्म के जो कि समस्त पापो का मूल है, दो पक्ष है– सज्ञानात्मक और क्रियात्मक। दर्शन मोहनीय हमारे बोध और विश्वास मे हस्तक्षेप करता है। चरित्र मोहनीय इच्छाओ की विकृति है, वह जीव को पाप की ओर ढकेलता है। जब हम जैन चितन के नीतिशास्त्रीय पक्ष की चर्चा करते है तो हमे कर्म और आत्मा के सबध पर ध्यान देना चाहिए।

जैन न्याय

इस सदर्भ मे हम तीन बिन्दुओ को स्पर्श करेगे– 1. प्रमाण 2 नय और 3. सप्तभगी। प्रमाण और नय का सबध अधिगम बोध या समझ से है। प्रमाण से यथार्थ ज्ञान का बोध होता है जबकि नय विवेचित पदार्थ के विभिन्न पक्षो को स्पष्ट करता है। पूर्ण ज्ञान के ये दो साधन है। सप्तभगी जन चितन की विशिष्ट पद्धति है जिसका आशय प्रकथन शैली से है।

प्रमाण के दो भेद है प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण। साधारणत प्रत्यक्ष से आशय इद्रिय बोध लिया जाता है। यह आशय जैन चितन मे गौण अर्थ रखता है। इसे व्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है। यथार्थ प्रत्यक्ष तो वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है जिसे आत्मा तत्क्षण सीधे अनुभव करती है। इस दृष्टि से इद्रिय बोध परोक्ष एव माध्यमगत होता है क्योकि आत्मा को इद्रियगम्य वस्तुओ का ज्ञान ज्ञानेन्द्रियो के माध्यम से होता है।

प्रमाण सामान्य रूप से पाच है – मति, श्रुति, अवधि, मन पर्यय और केवल। सज्ञान के तारतम्य मे इनकी व्याख्या की जा चुकी है। इनमे से मति और श्रुति परोक्ष प्रमाण है। अन्य तीन प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रमाणो के विषय मे एक रोचक तथ्य है – यथार्थ की प्रमाणिकता को सामान्य और अधिसामान्य पक्षो से स्पष्टत जाना जाता है। सामान्य अनुभूति मतिज्ञान है जबकि अधिसामान्य अनुभूति मे अवधि ज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान का समावेश होता है। ये

चारो ज्ञान मिलकर ही आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान है, यद्यपि हमारा अनुभव–लोक दूसरो के शब्द प्रमाणो से भी अनुगुजित होता है। अत. दूसरो के शब्द प्रमाण जो हमे साहित्य के माध्यम से उपलब्ध होते है– प्रमाण माने गए हैं। यही श्रुतज्ञान है.। श्रुतज्ञान को सर्वोच्च स्थान नहीं दिया गया जैसा कि हिन्दू चिंतन पद्धति मे दिया जाता है। वेदो को ब्राह्मण प्रणालियों में अतिम प्रमाण माना जाता है। ज्ञान के अन्य सभी सिद्धात वैदिक श्रुत के अधीनस्थ है और वेदो को विवाद मुक्त होकर अवश्य ही स्वीकार करना होता है। जबकि जैन श्रुतज्ञान को मात्र एक प्रमाण मानते है तथा वह भी गौण प्रमाण। प्रत्यक्ष एव तत्क्षण आत्मसाक्षात्कार ही सत्य की अतिम प्रामाणिकता है। सभी प्रमाण मानवीय है और उन्हे सार्वकालिक सत्य नही माना जा सकता। जैन चितन का यह मानवीय तत्त्व विशेष रोचकता लिए हुए है। विपरीत मनोवैज्ञानिक परिस्थितियो मे इन पाचो प्रमाणो से तीन प्रमाण भ्रष्ट होने की सभावना से मुक्त नही है। तब भ्रष्ठ प्रमाणों को प्रमाणाभास कहा जाएगा। मति ज्ञान कुमतिज्ञान हो सकता है। कुमति ज्ञान का स्पष्टआशय भ्रामक और मायावी बोध से है जो त्रुटिपूर्ण अनुमानो से युक्त है। इसी प्रकार श्रुति कुश्रुति हो सकती है। कुश्रुति से व्यक्ति की बुद्धि काल्पनिक दर्शन और अविश्वसनीय साहित्य से दूषित हो जाएगी। मिथ्या और कुमार्ग प्रेरक अतीन्द्रिय बोध अवधि ज्ञान का कलुषित रूप है। जिसे पारिभाषिक रूप से विभंग ज्ञान कहा गया है। अत सम्यक् प्रमाणो से कुमति, कुश्रुति और विभग को सर्वथा पृथक् रखना चाहिए। अन्य दो प्रमाणो की इस प्रकार विकृति सम्भव नही है। मन पर्यय ज्ञान असाधारण उपलब्धि है जो महान आत्मिक विकास का फल है और केवल ज्ञान सम्पूर्ण मुक्ति से प्राप्त सिद्धि है। अत. इन दो प्रसगो मे बाह्य व्यवधान की कुछ भी सभावना नही है। इन्ही दो प्रमाणो के साथ पूर्ववर्णित तीन प्रमाणो के सम्यक् रूपो के सम्मिलन से प्रमाणो का समग्र स्वरूप बनता है।

प्रमाणो के विषय मे उपरोक्त सक्षिप्त गणितीय विवेचन से स्पष्ट है कि जैनो का प्रमाण सिद्धात हिन्दुओ की प्रणालियो से किंचित भिन्नता रखता है। विभिन्न हिन्दू चिंतन धाराओ मे व्यक्त प्रमाण–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, सभा आदि जैन प्रणाली के मतिज्ञान

एवं श्रुतज्ञान मे समाहित हैं। यहां तक कि इन दोनो मे सच्चे प्रमाणो का सर्वाधिक महत्वपूर्ण निकष वस्तुगत समर्थन ही दिखाई देता है। ज्ञान के इन दो साधारण स्रोतो के साथ जैनो ने अन्य तीन असाधारण स्रोतो को भी मान्यता प्रदान की है। अत वे मात्र बुद्धि को ही नही बल्कि उच्चतर अन्तर्बोध या प्रज्ञा को भी महत्वपूर्ण मानते है जैसा कि पश्चिम मे बर्गसन ने जोर दिया है। बर्गसन निस्सदेह सही है क्योकि वह बुद्धि पर प्रज्ञा को वरीयता देता है। बुद्धि तत्वो को समझने की विश्लेषणात्मक प्रक्रिया है। अत वह विश्लेषण प्रक्रिया का कृत्रिम रूप है। एक कलाकार अथवा कवि की दृष्टि के मापन मे बुद्धि असमर्थ है। सुकरात का **डीमन** (Daemon) अथवा **सेंटपाल** (St Paul) का **क्राइस्ट** (Christ) बौद्धिक विश्लेषण से परे है। पौराणिक पात्र **प्रोटियस** (Proteus) की यथार्थता बुद्धि की पकड से बाहर है किन्तु वह असाधारण अन्त चेतना (प्रज्ञा) के लिए बिल्कुल स्पष्ट है। मनुष्य मे असाधारण अतीन्द्रिय बोध की क्षमता का सकेत आधुनिक मनोविश्लेषणात्मक अनुसधानो द्वारा किए गए रहस्योद्घाटन मे भी मिलता है। एक साधारण व्यक्तित्व उस सम्पूर्ण व्यक्तित्व का अश है जो बहुधा अवचेतन प्रकृति का होता है। यही अवचेतन आत्मिक सिद्धातो और प्रज्ञान (wisdom) का भण्डार होता है। जो अपने भीतर छिपी शक्तियो को जगाना सीख लेता है, वह कला या नैतिकता के क्षेत्र मे प्रतिभावान् बन जाता है, उसे ही लोक के रहस्यो का ताला (seasame) खोलने का जादुई मत्र मिलता है। अतएव ज्ञान के दर्शन को अनिवार्यत. ऐसे अतीन्द्रिय बोध से विज्ञप्त होना चाहिए।

किन्तु प्रज्ञा को महत्व देने का अर्थ बुद्धि की सर्वथा उपेक्षा करना नही है। बर्गसन के अनुसार बुद्धि ने जो अन्वेषित किया है वह अविश्वसनीय है। बुद्धि का ऐसा तुच्छ तिरस्कार आधुनिक विज्ञान के प्रति अनुचित महाभियोग है और प्रज्ञा का इस सीमा तक महिमागान दार्शनिक वस्तु पूजा से अधिक कुछ नही है। एक अधिक तर्कपूर्ण और सगत दृष्टिकोण है बुद्धि और प्रज्ञा दोनो को यथार्थ की प्रकृति को समझने के सम्यक् साधन के रूप मे स्वीकार करना, जहॉ तक वस्तुगत् प्रमाणो से उनकी पुष्टि होती है। बुद्धिवाद जो अतीन्द्रिय बोध को आत्मसात् नही करता तथा वह रहस्यवाद जो

तर्कबुद्धि की दीप्ति के सामने नहीं ठहरता, दोनो ही मानव व्यक्तित्व की, जिसकी शक्तियां अनत और जिसकी गहराईया अथाह है, सम्पूर्ण प्रकृति का आशिक रूप मे ही प्रतिनिधित्व करते है। प्रमाण विषयक जैन सिद्धान्त मे दोनों को उनकी नीव से शिखर तक विभिन्न कोटियों के अनुसार समाहित किया गया है।

ज्ञान और ज्ञेय

प्रमाण और प्रमाणाभास के भेद के अभिज्ञान मे एक दार्शनिक मत अन्तर्निहित है—ज्ञान से परे और पृथक वस्तुगत् यथार्थ का अस्तित्व। ज्ञान मात्र यथार्थपरक नही होता, यदि होता तो जैन दर्शन अद्वैत से भिन्न कैसे होता। जैन दर्शन जो चितन धारा मे अपना स्वतन्त्र स्थान रखता है वस्तु जगत को चेतना से पृथक् स्वतत्र अस्तित्व के रूप मे स्वीकार करता है। वस्तु जगत को हम दर्शन या बोध से अनुभव करते है तथा बुद्धि से जानते समझते है। दर्शन और ज्ञान दोनो ही हमारी चेतना अथवा आत्मा की अन्त प्रकृति की अभिव्यक्तिया है। जैन प्रणाली मे कही भी आकस्मिक रूप मे भी अतर्निहित नही है कि जानने की सक्रिया विधि से ज्ञान की वस्तु (ज्ञेय) किसी भी प्रकार से परिवर्तित होती है अथवा अतशयित हो जाती है, क्योकि दर्शन वस्तु के रूप को तथा ज्ञान वस्तु की प्रकृति को उद्घाटित ,करता है। वस्तु का अस्तित्व तार्किक दृष्टि से बौद्धिक विश्लेषण से पूर्व ही स्वीकार करना होगा। किन्तु (ज्ञान के विषय रूप) ज्ञेय वस्तु के अस्तित्व को पूर्ववर्ती स्वीकार करने का आशय यह नहीं है कि बुद्धि को निष्क्रिय माना जावे। जीव अथवा आत्मा की सतत उपयोगशीलता जैन चितन का केन्द्रीय सिद्धान्त है। अत. बुद्धि चेतना (आत्मा) की सक्रिय अभिव्यक्ति है किन्तु यह सक्रियता अपनी ही प्रकृति को उद्घाटित करने की शक्ति रखती है जब कि अचेतन पदार्थो मे यह गुण नही होता। इस प्रकार ज्ञेय तत्व दोनो है – आत्मा और अनात्मा, मानसिक और भौतिक तथ्य। ज्ञान की प्रकृति को दर्शाने के लिए बहुधा प्रकाश का उदाहरण दिया जाता है। जिस प्रकार प्रकाश अन्य वस्तुओ के साथ ही स्वय को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान दोनो तत्वो, जीव और अजीव, को उद्घाटित करता है। अत. ज्ञान और ज्ञेय के बीच अन्य किसी सबंध की अन्यथा

व्याख्या सर्वथा असंगत होगी यदि वह सबध उन दोनो को किसी उच्च अखड के अभेद रूप तत्वो के रूप बना देता हो। निस्सदेह आत्मा के स्तर पर ज्ञान और ज्ञेय का सबध अत्यत घनिष्ठ है। आत्मा ही ज्ञानी है और ज्ञान उस का गुण है। ज्ञान रहित जीव होता ही नही, क्योंकि बिना ज्ञान के वह अचेतन होगा तब उसे अजीव द्रव्यो से भिन्न कैसे किया जा सकेगा। इसी प्रकार बिना जीव के ज्ञान नही हो सकता क्योकि आधार विहीन तथा जीवन प्रवाह से मुक्त ज्ञान सचेत कैसे हो सकता है। अत ज्ञान और ज्ञानी भिन्न सज्ञा से अभिहित होने पर भी वस्तुत अभिन्न है। किन्तु यही ज्ञानी ज्ञेय पदार्थ हो जाता है, निज ज्ञान हेतु। सो, ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञेय एक ही निश्चित सत्ता के तीन विभिन्न पक्ष हो जाते है।

किन्तु ज्ञान अजीव पदार्थो से भी सबधित है क्योकि वे भी ज्ञेय है। जब अजीव पदार्थ ज्ञेय होते है तब ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध ठीक वैसा नही होता जैसा कि पिछले उदाहरण से ज्ञान का स्वय ज्ञानी को ज्ञेय मानने पर होता है। ज्ञान अजीव पदार्थो से स्पष्टत असम्बद्ध है यद्यपि वे ज्ञान से सबधित ज्ञेय हो जाते है। यहा ज्ञान का कार्य अजीव पदार्थो को उनकी मूल प्रकृति अचेतनता मे प्रदर्शित करना है। चेतन अचेतन पदार्थो की प्रकृति को किस प्रकार अन्वेषित कर सकता है? ज्ञान की प्रकृति ज्ञान क्यो है जैसे अनुत्तरित प्रश्न की तरह पूर्व प्रश्न को भी तर्क सम्मत न होने से छोडा जा सकता है। ज्ञान यद्यपि अजीव पदार्थो की प्रकृति के लिए असम्बद्ध है, किन्तु सम्बद्ध इस दृष्टि से कि उनकी प्रकृति के रहस्य का उद्‌घाटन ज्ञानी अथवा आत्मा के द्वारा ही होता है, यह जैन तत्त्व दर्शन की आधार भूत अवधारणा है।

इस प्रकार जैन ज्ञानमीमासा (epistemology) के मूल आधार का सूक्ष्म अध्ययन करने से दो तथ्य उभरते है। (1) अजीव पदार्थ के सदर्भ मे ज्ञेय और ज्ञान का सबध शुद्ध रूप से बहिरग है। (2) प्रथम तथ्य के उपप्रमेय के रूप मे ज्ञेय पदार्थो का अपना स्वतत्र अस्तित्व है, अपवाद स्वरूप आत्मा है जो ज्ञान से अन्तरग संबध रखती है।

अतरग और बहिरग सबधो का अतर व्याख्या का विषय है।

सबंधों की प्रकृति को लेकर रसेल–ब्रेडले वाद प्रतिवाद (Russell-Bradley-Controversy) आधुनिक दर्शन शास्त्र का एक रोचक किन्तु जटिल अध्याय है। हम यहां उसकी विस्तृत चर्चा नहीं करेंगे। इस पद के आशय का संकेत करना ही पर्याप्त होगा। हीगेल की परम्परा मे आधुनिक आदर्शवादी के ब्रेडले–बोजॉके (Bradley-Bosanquet) सम्प्रदाय की धारणा है कि सारे सबध सबंधित पद की प्रकृति में ही अन्तर्भूत हैं। अर्थात् सबंधों से पृथक् पद तथा पदो से पृथक् सबध समान नहीं होते। "अ" और "ब" के बीच एक संबंध "स" है, यदि उन्हे "स" सबंध से वचित रखा जाए तो फिर वे पूर्व के समान "अ" और "ब" नही रहेगे। सबध विशेष मे किया गया परिवर्तन अथवा निरोध सबधित पदो मे परिवर्तन उत्पन्न करेगा अथवा उन्हे नकार देगा। इस तत्त्वमीमांसात्मक सिद्धान्त मे अध विश्वास के कारण यह हीगेलवादी आदर्शवादी, विसंगतिपूर्ण सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए बाध्य हुआ। एक दूसरे से संबंधित पद, चूंकि उनकी प्रकृति इस संबध द्वारा ही निरकुशतापूर्वक नियत्रित की गई है, एक उच्चतर जैविक इकाई के अवयव के रूप मे प्रस्तुत किए गए है। अतएव परिवार के सदस्य ही परिवार की इकाई के अवयव हैं। समाज अपने आप मे पादपो अथवा प्राणियों की जैविक इकाई है तथा विभिन्न मानव व्यक्तित्व जो समाज की सरचना करते है उसके तत्व है। यहा तक कि सम्पूर्ण लोक की अवधारणा एक जैविक इकाई या तत्र के रूप मे की गई है जिसके सदस्य व्यक्ति भी है और वस्तुए भी। इस मत की तर्कसगत परिणति है मानव व्यक्तित्व की पूर्ण आधीनता एवं किसी अन्य उच्चतर इकाई जो एक मात्र यथार्थ है, की पूजा। प्रत्येक वस्तु को माया और अयथार्थ के स्तर तक अवमूल्यित किया गया है। इस प्रकार की तत्त्वमीमासाओ की क्या राजनैतिक और नैतिक परिणतिया सामने आती रहीं? इसको विस्तार से चित्रित करने की आवश्यकता नही है। परमसत्ता के दर्शन से अनुप्राणित सामाजिक व सास्कृतिक सगठनों की ही अनिवार्य परिणति वह महासंकट है, जिसने यूरोपीय सभ्यता को नष्ट कर दिया।

पर आधुनिक चिंतन में **बर्ट्रेन्ड रसेल** के (Bertrand Russell) अमूल्य योगदान से हमे एक स्वस्थ्य परिवर्तन दिखाई देता है। बहिरग

सबधो के प्रति–सिद्धान्त के समर्थक रसेल ने प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्त की अपूर्णता एव असत्यता को भलीभॉति अनावृत्त किया है। उनके अनुसार दो पदो अ और ब के बीच "स" सबध है फिर भी पदो की प्रकृति सम्बन्धो मे परिवर्तन से अप्रभावित रह सकती है। अन्तर्विरोध की सत्यता को प्रदर्शित करने के लिए हम इस दृष्टान्त का प्रयोग कर सकते है जो बहुत उपयोगी किन्तु अपरिष्कृत है। मान ले आपकी टेबिल के पार्श्व मे एक कुर्सी है, इन दोनो मे एक विशेष सम्बन्ध है– कहना चाहिए कुर्सी टेबिल के दक्षिण में है। अब सम्बन्ध में परिवर्तन कर दिया जाए अर्थात कुर्सी को यदि टेबिल के उत्तर मे रख दिया जाए तो अतरंग सम्बन्धो के सिद्धान्तानुसार कुर्सी और टेबिल की प्रकृति मे भी परिवर्तन हो जाएगा क्योकि सबध मे परिवर्तन हो गया है। साधारण दर्शक के लिए यह बेतुकी बात होगी। वह जानता है कि वस्तुओं में सिवाय उनकी स्थिति के अन्य कोई परिवर्तन नही हुआ है। फिर भी इस आस्था पर टिके रहना कि स्थिति मे परिवर्तन के क्रम मे वस्तुओं मे भी परिवर्तन हो जाता है, चितन के क्षेत्र मे मिथ्या देवो के समक्ष अपनी तर्क बुद्धि को समर्पित कर देना है। बहिरग सम्बन्धो के सिद्धान्त के प्रवक्ता रसेल इस बात पर दृढ है कि स्थिति बदलने से वस्तु की प्रकृति नही बदलती है। यह एक महत्वपूर्ण और अभिनव निष्कर्ष है। आप ऐसे मानव समाज की कल्पना कर सकते है जिसमे उसके व्यक्तित्व को इकाई के अशो मे अथवा यथार्थ के आभास मे अवमूल्यित करना न पडता हो। इस तारतम्य मे प्रासगिक एक परिणति यह है कि ज्ञान का उसकी वस्तु के साथ सम्बन्ध हेतु किसी उच्चतर इकाई को, जिसके ये दो पक्ष है, अभिधारित करना आवश्यक नही है। यदि ऐसा होता तो इस आरोपित तथाकथित उच्चतर इकाई के सदस्य चेतन और अचेतन द्रव्य दोनो होते। साख्य के समान जैन मत का मौलिक सिद्धान्त है जीव और अजीव की भिन्नता और अन्य सक्राम्यता।

यूरोपियन चितन में इस सक्षिप्त विषयान्तर का कारण यह दिखाई देता है–"जैन धर्म का सार" पुस्तक के लेखकों ने स्याद्वाद सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए यह दर्शाने का प्रयास किया है कि यथार्थवादी पद्धति के विरूद्ध जैन धर्म लोक की स्पष्ट आदर्शवादी

व्याख्या है। हम नाम के सदर्भी विवाद मे नही पडना चाहते। जैन धर्म को अपनी अभिरूचि के अनुसार कोई आदर्शवादी या यथार्थवादी निरूपित कर सकता है जहा तक पद स्पष्ट रूप से परिभाषित किए गए हों। हमारा सरोकार तो केवल स्याद्वाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना है। अजीव के विषय मे अपने सामान्य चितन मे लेखकगण कहते है :–

जब उनका अपने परिवेश की. अन्य वस्तुओ के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता है तो उनमे निरतर घटनामूलक बहकाव दिखाई देता है। अत परिवर्तनो के स्थान में हम उन्हे विशिष्ट वस्तु कैसे मान सकते है? दार्शनिको ने इसका बेझिझक उत्तर इस प्रकार दिया है कि हम वस्तुओ की अवधारणा मे, इस विचार के साथ कि सभी विशिष्ट अस्तित्व बहुआयामी गुणो से सम्पृक्त होते है एकता मे अनेकता को सम्मिलित कर सकते है। दार्शनिको के अनुसार द्रव्य वे है जिनमे अनेक गुण, जैसे विस्तार घनत्व, भार, रग आदि होते है। द्रव्य अथवा विषय वे है जिनको इद्रियबोध, अनुभूति अथवा सवेदन द्वारा जाना जा सकता है। सूक्ष्म निरीक्षण से दिखाई देगा कि ऐसी युक्ति भरे तर्कों से हम अस्तित्व के यथार्थ बोध से वचित हो जाते है भले ही वह कितना सरल व्यष्टि अस्तित्व क्यो न हो। क्यो असबद्ध सक्रल्पो को एक सामान्य द्रव्य मानकर एकता स्थापित करने के प्रयास मे वस्तुत हम एक सकल्प मे दूसरा सकल्प मिला देते है, जो कि समान रूप से एक दूसरो से सर्वथा पृथक् और असम्बद्ध होते है। अन्य सकल्पो को हटा दीजिए फिर देखिए आपके द्रव्य मे क्या बच रहता है? अज्ञात के द्वारा ज्ञात की व्याख्या असम्भव है। अतएव विभिन्न गुणो की यथार्थ एकता को समझने के लिए अथवा सरल शब्दो मे कहा जाए तो उन्हे एक मानने के लिए हमारे मन को क्या चाहिए? हमें एक से एक के सबध के विषय मे बुद्धिसगत विश्वास रखना चाहिए और हमें यह भी विवेक रखना चाहिए कि एक का अस्तित्व शेष सभी के अस्तित्त्व मे समाहित होता है और सभी वस्तुए जो इस विशेष गुण से युक्त है अपना अस्तित्व खो देगी यदि वे अपनी समष्टि मे न होकर उससे पृथक् हो जाएगी। द्रव्य के सही अर्थ को ग्रहण करने के लिए (लॉक का सब्स्ट्रेटम नही)। हमे वह

सिद्धान्त जिससे अशो एव गुणों की बहु आयामिता (अनेकता) उत्पन्न होती है और जो उनमे अवस्थित है और उन मतविभिन्नताओ को जो उसमें से प्रकट होती है, विवेकपूर्ण ढग से समझना होगा। द्रव्य ऐसी एकता, वस्तुतत- विभिन्नता में एकता या भेदता मे अभेदता है जो स्वयं को विभिन्नताओ के माध्यम से अभिव्यक्त तथा बोधित करती है। मन के राज्य मे अथवा चेतन प्राणियो के आध्यत्मिक जीवन मे भी, निस्सदेह असीमित विविधता एव बहुरूपता पाई जाती है पर हमे इस तथ्य को दृष्टि से ओझल नही करना चाहिए कि यह विविधता और बहुरूपता एक को दूसरे से अलग करके बने भागो के कारण नही है, बल्कि उनमे से प्रत्येक का अपना अस्तित्व है और उसका बोध शेष से उसके पृथक्करण एव एकाकीकरण मे अथवा उनके साथ शुद्ध बाह्य सबधो के प्रकाश मे हो सकता है। दूसरी ओर, बहुलता या विविधता उन अशो या तत्वो मे है जिनमे से प्रत्येक का शेष मे और शेष के माध्यम से अस्तित्व है और प्रत्येक का पृथक्–पृथक् होना एव विशिष्ट पहचान शेष के साथ संबधो पर ही निर्भर है अथवा इनमे से प्रत्येक को तभी जाना जा सकता है जब उसे किसी अभिप्राय मे शेष रूप मे देखा जाता है। उदाहरणार्थ, हम दो बाह्य स्वतत्र वस्तुओ का आकाश मे सयोग नही कर सकते और उसे मन तथा उसकी वस्तुओ के सबध के प्रस्तुतिकरण के रूप मे लागू नही कर सकते क्योकि विचार यद्यपि वस्तु से पृथकत्व रूप रखता है फिर भी वह उससे विभाज्य नही होता। "विचारक और विचारित वस्तु एक दूसरे से भिन्न नही होते। वे दो होकर भी एक है। वस्तु विषय के लिए केवल वस्तु है और विषय वस्तु के लिए है। उनका पृथक् होकर कोई अस्तित्व अथवा अर्थ नही है और अपनी सघ समिति मे वे दो पृथक वस्तुए नही है जो एक दूसरे से उलझी हैं बल्कि ऐसी दो है जिन्होने अपना द्वैत एक उच्चतर इकाई मे विलीन कर दिया है। (जैनमत का सार पृष्ठ 109)।

विषय और वस्तु (विचारक और विचार) का एक उच्चतर इकाई मे सलयन से उपरोक्त विवेचन से दार्शनिक तर्क की अपेक्षा आदर्शवादी वाक्चातुर्य अधिक ध्वनित होता है। यहां हमें **ब्रेडले** और **बोजाँके** (Bradley-Bossanquet) की प्रतिध्वनि सुनाई देती है।

लेखकों ने **हीगेल** (Hegel) को घोंटकर पी लिया है। पर उन्होंने इस का विवेकपूर्ण निर्णय नही किया कि **हीगेल** के विचार मे क्या जीवित है और क्या मृत? निस्सदेह द्रव्य विषयक जैन अवधारणा **हीगेल** के द्वन्द्ववाद से निकटता रखती है किन्तु जैन तत्त्वमीमांसा **हीगेल** के निरपेक्ष (absolute) से प्रयोजन नहीं रखती। वे लेखक जिन्होने भारतीय परमब्रह्मवादी शंकर को उनके स्याद्वाद संबंधी भ्रमित ज्ञान के लिए क्षमा नहीं किया, उनके पश्चिमी सस्करण के प्रति प्रणाम–भाव व्यक्त करने मे सकोच नहीं करते। यह विसगति सर्वथा भ्रामक है और जैन सिद्धान्त का गलत प्रस्तुतीकरण विस्मयजनक है क्योकि वह एक जैन लेखक की ओर से आया है जिन्होने यदि अपने ही विचार तत्र का अति सतर्क होकर अधिक अध्ययन किया होता और जर्मन आदर्शवाद के सम्मोहक भ्रम का कम सतर्क होकर अध्ययन किया होता, उनके प्रति अधभक्ति न रखी होती तो लेखक यह देखने से वचित न रहते कि वे जिस विचार तत्र का निरूपण करने जा रहे हैं वह प्राचीन भारत मे परमसत्तावाद के दर्शन का दृढ और आधिकारिक खडनकर्त्ता है।

जैन न्याय (नय)

जैन न्याय से सबधित अगला शीर्षक बिन्दु नयो के विषय मे है। ये वस्तुओं को जानने का दूसरा साधन है, प्रथम साधन प्रमाण है। सभी ठोस वस्तुए अत्यत जटिल है, उनके गुण धर्म और सबध असख्य है। यथार्थ वस्तुए ऐसी जटिल सरचनामय होने से विभिन्न दृष्टियो से परीक्षण–अध्ययन का विषय है। किसी विशेष दृष्टि से वस्तु के बोध को नय कहते है। किसी पक्ष से कोई कथन या अभिमत को नय कहते है। प्रत्येक दृष्टि वस्तु की प्रकृति को अपने ढग से उद्घाटित करती है। अतः नय यथार्थ की प्रकृति के अतर मे झाकने का साधन है। सिद्धातत. नयो की सभावित संख्या अनन्त है क्योंकि यथार्थ के गुण धर्म और सबध अनत है। फिर जैन नैयायिकों ने सात नयो का उल्लेख किया है– नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत।

नैगम नय

यह कुछ दुर्बोध दिखाई देता है अत. विद्वानो ने इसकी भिन्न–भिन्न व्यांख्याए की है। पूज्यपाद ने तत्वार्थसूत्र भाग एक के 33वी सूत्र की विवेचना में इसकी व्याख्या इस प्रकार ही है– नैगम वह है जो किसी क्रिया की गतिविधि के उद्देश्य या अत से सम्बन्धित होता है। उदाहरण (दृष्टात) इस प्रकार है–

(1) आप देखते है कि एक मनुष्य जल, इधन एव अन्य पाक सामग्री लिए जा रहा है और उससे पूछते है – "तुम क्या कर रहे हो?" "मै खाना पका रहा हू" वह उत्तर देता है। यह उत्तर कार्य श्रृखला के उद्देश्य अथवा उसके अतिम परिणाम की ओर सकेत करता है। उत्तर देने के समय वह व्यक्ति खाना पकाने की क्रिया मे वस्तुत सलग्न नही है।

(2) दूसरे उदाहरण मे – एक मनुष्य कुल्हाडी लिए जाता है। जब उससे उसका उद्देश्य पूछा जाता है तो वह कहता है – मै लकडी का प्रस्थ (पैमाना) लेने जा रहा हू। वास्तव मे उसे बास का एक टुकडा काटना है और उससे एक प्रस्थ (पैमाना) बनाना है। पुन यहा प्रस्थ मात्र उद्देश्य अथवा क्रिया का परिणाम दर्शाता है।

(3) दोनो दृष्टान्तो – "भोजन" और "प्रस्थ" मे एक मूल उद्देश्य है जो किचित समयावधि मे किए गए आचरण की गतिविधि को इगित करता है। आचरण की गतिविधि विभिन्न चरणो मे सम्पन्न क्रियाविधि की विभिन्न विधियो से प्रदर्शित होती है। विभिन्नता के बावजूद, सम्पूर्ण कार्य श्रृखला एव प्रत्येक पृथक् चरण लक्षित अभीष्ट की ओर प्रवृत्त होता है। अत कहा जा सकता है कि सामान्य उद्देश्य या लक्ष्य आचरण की गतिविधि के प्रत्येक चरण में उपस्थित होता है। सामान्य उद्देश्य ही कार्य श्रृखला के विभिन्न चरणो को परस्पर समग्र मे सयोजित करता है तथा कार्य को अर्थपूर्ण बनाता है। उद्देश्यात्मक कार्य श्रृखला मे उपस्थित सर्वव्यापी प्रयोजनमूलक अवयव (teleological element) पर विशेष बल दिया जाना ही नैगम नय दृष्टि है।

भोजन बनाने और प्रस्थ बनाने के दो दृष्टातो के सहित उक्त व्याख्या को तत्वार्थ सूत्र पर वृत्ति (टीका) के टीकाकार श्रुत सागर

द्वारा भी ग्रहण किया गया है। ये ही दृष्टांत पुन: प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक न्याय ग्रथ में दिए गए है।

प्रयोजनमूलकता (teleology) और व्याख्यात्मक प्रत्यय (idea) के सच्चे संबंध के अनुकूल नैगम नय को बाद मे तीन भागो मे विभाजित किया गया है। दो उदाहरण किसी वर्तमान गतिविधि को निर्दिष्ट करते है, अत: वे निम्न रूप मे आते हैं–

(1) वर्तमान नैगम–एक पुरानी घटना को देखे। दीपावली की सुबह तुम कहते हो – "आज भगवान महावीर का परिनिर्वाण काल है।" किन्तु महावीर ने वस्तुत: उस दिन निर्वाण प्राप्त नही किया जिस दिन तुम उक्त कथन करते हो। यह घटना तो कई शताब्दियों पूर्व की है। फिर भी वह वर्ष के उसी सगत दिवस पर घटित हुई थी। इस सगत दिवस से जो, शताब्दियो पूर्व घटित निर्वाण का साक्षी है, अनुवर्ती वर्षो के सभी सगत दिवस सबधित है। इसी प्रकार हम प्रतिवर्ष राजा का जन्म दिवस, दरबार दिवस जैसे शब्द प्रयोग मे लाते है। शब्द प्रयोग का यह अभिवचन मात्र पूर्व घटना के कारण अर्थपूर्ण है। वर्तमान का यह लाक्षणिक प्रयोग अतीत से अकूट रूप में जुडा है। वर्तमान और ऐसे अतीत के तादात्म्य रूप सबध का अनुकूल प्रयोग वर्तमान नैगम है जिसका संबध निम्नलिखित से है–

(2) भूत नैगम:– हम पीछे अतीत मे देखने के स्थान पर आगे सुदूर भविष्य मे भी झॉक सकते है। ऐसे अवयव को जो कभी संबद्ध था उसे वर्तमान मे अन्वेषित करने के स्थान पर हम वर्तमान मे वह खोज सकते है जो अभी घटित नही हुआ। यथा राजकुमार को देखकर कहा जा सकता है – "देखो, महाराज आ रहे है।" राजकुमार निश्चित ही राजपरिवार के नरसिह सदस्य है पर वे अभी राजा नही है बल्कि भावी राजा हैं। इसी प्रकार प्रत्येक भव्य जीव को सिद्ध जीव कहा जा सकता है। निकट भविष्य मे सभी का लक्ष्य सम्पूर्णता या सिद्धि प्राप्त करना ही है, सबके भीतर परमात्मा बीज रूप में उपस्थित है।

ऐसा ही कथन भाव नैगम (भविष्य नैगम) के प्रसंग मे सही है।

नैगम नय की एक अन्य व्याख्या सिद्धसेन ने प्रस्तुत की है जिसका उल्लेख **हर्मन जैकोबी** (H. Jacobie) ने उमास्वामी रचित

तत्त्वार्थ सूत्र के सूत्र 33 के अनुवाद मे किया गया है। मल्लिषेण ने अपनी रचना स्याद्वाद मंजरी में श्री देवसूरि का उल्लेख किया है जो इसी ढग की व्याख्या स्वीकार करते है। किन्तु स्वय उमास्वामी के भाष्य मे यह बहुत प्रधान नहीं है पर जो भी हो नय की व्याख्या की इन विधियों से सामान्य (universal) और विशेष (particular) के सबधों का परीक्षण प्रारभ हुआ। न्याय और वैशेषिक चितन प्रणालियों ने इस नैगम नय को एकात दृष्टि से ही अगीकार किया। अर्थात् उन्होंने इस नय को अकारण खीचातानी करके एक सीमा के भीतर ही स्वीकार किया। सांख्य और वेदात तो विशेष को सर्वथा नकारते हैं। बौद्ध मत सामान्य को एक दम अस्वीकार करता है। इन दो अतिवादों के बीच नैगम नय दोनों सामान्य और विशेष की महत्ता को मान्य करता है। मात्र सामान्य अथवा मात्र विशेष अपने आप मे किसी ठोस वस्तु को व्यक्त नहीं करता, अन्यथा वस्तु खोखली अमूर्त ही रह जाएगी। पुन एक दूसरे से गौण अथवा दूसरे का व्युत्पन्न नही हो सकता। वस्तु सामान्य एव विशेष की समन्वित जैविक इकाई है। सामान्य से पृथक् विशेष नही है और विशेष से पृथक् सामान्य नहीं है तथा दोनो से पृथक् यथार्थ नही है। यही यथार्थ विषयक मूल जैन सिद्धान्त है।

बिल्कुल यही दृष्टि कथित रूप से नैयायिकों और वैशेषिको द्वारा अपनाई गई इसलिए जैन एव अन्य प्रणालियो ने नैगम नय दृष्टि को अपनाया है। फिर जैन किस बिन्दु पर अन्यों से भिन्नता रखते है? वह इस प्रकार है—निस्सदेह नैयायिक एव वैशेषिक नैगम नय के अनुकूल यह मानते है कि सभी ठोस वस्तुए सामान्य और विशेष का जटिल समन्वय है। निस्सदेह यह भी ठीक है कि वे दोनो को पृथक् और अति शेषणीय मानते है और यह भी निस्सदेह स्वीकारते हैं कि दोनो मूल है व्युत्पन्न नही। यहा तक वे जैनो से मतसाम्य रखते है। पर जहा जैनमत का विश्वास हे कि सामान्य और विशेष की पृथकता सापेक्ष दृष्टि से सत्य है, नैयायिक एव वैशेषिक उसे परम एव अटल सत्य मानते हैं। विशेष से सामान्य सर्वथा पृथक् और स्पष्ट है। दोनो के मध्य यह पृथकता सर्वथा निरपेक्ष होने से उनका अपनाया हुआ नय नही बल्कि नैगमाभास है। वस्तुत: वे दोनों कथचित् भिन्न है, अत्यत भिन्न नहीं।

नैगम नय की ऐसी विवेचना के पश्चात् श्री देवसूरि नैगम नय की तीन विशिष्ट शैलियों का उल्लेख करते है :–

1. एक से दूसरे के दो गुण धर्मों को भिन्न करना, यथा–आत्मा मे सत्ता और विचार का होना, सत् "चैतन्यम् आत्मानि"। यहा विचार को सत्ता से भिन्न दर्शाया गया है।

2. दो पदार्थों मे भिन्नता यथा, द्रव्य वह है जो वस्तुओं और उनकी पर्यायो के रूप मे अभिव्यक्त होता है।

3. वस्तु की उसके गुण से भिन्नता यथा, विषयासक्त मनुष्य को क्षणिक आनद मिलता है। "क्षणमेककम् सुखी विषयासक्तः जीव.।"

अस्तु (1) सत्ता को विचार से पृथक् कहा गया है। (2) वस्तु की उसकी पर्याय से भिन्नता तथा (3) व्यक्ति की उसे प्राप्त आनद से पृथकता दर्शाई गई है। इन सब प्रसगो मे भिन्नता सापेक्ष दृष्टि से ही सत्य है। **हर्मन जैकोबी** (H Jacobi) ने अपने अनुवाद मे उक्त दृष्टातो को ही प्रस्तुत किया है।

किन्तु जब हम मल्लिषेण को देखते है तो हमे उनकी रचना स्याद्वाद मजरी मे दोनों व्याख्याएं उपलब्ध होती हैं। वे नैगमनय की व्याख्या देवसूरि अथवा सिद्धसेन के समान शैली मे प्रारभ करते है। जहां सामान्य और विशेष के सबंध की विवेचना का प्रश्न उपस्थित हुआ, उन्होने अपनी पुस्तक के पूर्व अश को ही पाठको के लिए निर्दिष्ट किया। अस्तु, नय के विषय मे वह कुछ और नहीं कहना चाहते और अपने कथन को जाने माने दो दृष्टांतो के साथ, जो प्रवचन (Divine word) में दिए गए है, समाप्त करते है। वे दो दृष्टांत कौन से है? उन्होंने दो नामों का उल्लेख किया है और वे भी गूढ दिखाई देते है। पर इससे किंचित् भी असहाय होने की आवश्यकता नही। उनके शब्द है– "प्रवचन प्रसिद्ध निलयन प्रस्थ दृष्टात द्वय" इत्यादि। यहाँ "निलयन" और "प्रस्थ" शब्दों का प्रयोग किया है। भोजन और माप (पैमाना) के स्थान पर ग्रह और प्रस्थ है। यह भिन्न भी सर्वथा स्पष्ट है। जहा तक नय के अर्थ का प्रश्न है दृष्टांत तो विचार या मत को सुस्पष्ट करने भर के लिए ही होता है। गृह निर्माण हो अथवा प्रस्थ निर्माण दोनों का संबंध "संकल्प मात्र" से है।

अगला विचारणीय प्रश्न यह है कि "किस प्रकार मल्लिषेण ने अन्य विवेचन से सबंधित दृष्टातो को प्रयोग मे लेकर अपनी व्याख्या प्रस्तुत की।" यहा आकर हमे स्वीकार करना ही पडेगा कि हम अटकल (अनुमान) से काम ले रहे है। हमे नहीं पता कि वे उदाहरण कहां से उद्धृत कर रहे है। वह कोई अन्य स्रोत होगा जहा से पूज्यपाद और मल्लिषेण दोनो को प्रेरणा प्राप्त हो रही है। फिर मल्लिषेण द्वारा दो दृष्टिकोणो को सामने लाने के प्रयास का क्या औचित्य है? दोनो दृष्टिकोणो का सामान्य आधार तो प्रयोजन मूलकता ही है। गृह निर्माण का प्रसग हो अथवा प्रस्थ निर्माण का, अभीष्ट वस्तु व्यक्ति के उद्देश्य से सबधित होती है। यह उद्देश्य वस्तु की आदर्श प्रकृति को मूर्त रूप देता है जो कि वस्तु का ठोस बोध है। इसी प्रकार सामान्य और विशेष की भिन्नता विशुद्ध प्रयोजनमूलक है। एक दृष्टि से जो सामान्य है, दूसरी दृष्टि से वही विशेष है। वस्तुत. सामान्य से ही विशेष निकलता है। विशेष के माध्यम से ही सामान्य अभिव्यक्त होता है। यदि यह बात ध्यान मे रहे तो स्पष्ट है कि सामान्य और विशेष की भिन्नता व्यक्ति के उद्देश्य पर निर्भर होती है। उद्देश्यात्मक प्रकृति ही दोनो दृष्टिकोणो को समीप लाती है। जो प्रत्यक्षत भिन्न दिशात्मक प्रतीत होते है, एक ही आधार से जुडे है। सभवत मल्लिषेण के मस्तिष्क मे यही विचार था, जब वे नैगमनय की व्याख्या एक शैली मे कर रहे थे और उसे अन्य शैली मे दृष्टात सम्मत बना रहे थे। यह समन्वय एक तरह का प्रावधानिक सुझाव है।

(2) सग्रह नय – यह नय वर्ग दृष्टि से सम्बद्ध है। जैन मत मे वस्तुओ का स्वरूप इस दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है कि अनेक व्यक्तियो मे साम्य और एकात्मता पाई जाती है।

ये व्यक्ति स्वाभाविक रूप से एक उपयुक्त समूह या वर्ग मे एकत्र होते है। जब हम एक वर्ग के सदस्य की तरह उन्हे देखते है तो हमारा ध्यान उनमे अन्तर्निहित समानता पर रहता है न कि उनके वैयक्तिक एव विशिष्ट लक्षणो पर। वर्गीकरण के इस मूल सिद्धान्त से हम सभी व्यक्तियो को एक समग्र इकाई मान सकते है। यह एकात्मता भी सापेक्ष सत्य है। यह एकात्मता एक वर्ग के भीतर एकत्र व्यक्तियो मे अन्तर्निहित समानता पर निर्भर है। इस सग्रह नय मे

एक बुनियादी तथ्य के विस्तृत हो जाने का सकट बना रहता है। यद्यपि सभी व्यष्टियाँ एक सम्पूर्ण एकात्मक समष्टि का निर्माण करती है, वस्तुत वे एक दूसरे से पृथक् होती है और अपने आतरिक स्वभाव से ही नही प्रत्युत काल और आकाश के अतराल मे भिन्नित की जा सकती है। अनेकता और भिन्नता की उपेक्षा कर एकात्मता पर जोर देना एक तत्त्वमीमासात्मक भूल होगी। सग्रह नय का ऐसा त्रुटिपूर्ण प्रयोग अद्वैत वेदान्त मे हुआ है। एकात्मकता पर विशेष बल एव विभिन्नता की सर्वथा उपेक्षा इस विचारधारा की विशेषता है। समान त्रुटि इसी विचारधारा के पश्चिमी सस्करण **हीगेल** (Hegel) के आदर्शवाद मे पाई जाती है। दोनो ही विभिन्नताओ को माया एव नय मात्र मानकर नकारते है तथा परमसत्ता को एक मात्र यथार्थ मानते है।

किन्तु जैन चितकों ने प्रारभ मे ही सग्रह नय की उपयोगिता के साथ–साथ उसके सकट को पहचान लिया था। यह सग्रह नय अपने ढग का अत्यत उपयोगी एव बौद्धिक नय है। अनेक वस्तुओ को एक मे सगृहीत कर उसे व्यवहार मे लाने मे विचार की मितव्ययता का श्रेय इस नय को जाता है।

केवल व्यावहारिकता की सुविधा की दृष्टि से ही नही बल्कि उभयनिष्ठ प्रकृति के दार्शनिक सिद्धान्त की दृष्टि से भी इस नय का औचित्य प्रमाणित होता है। उभयनिष्ठ प्रकृति स्वय मे एक अमूर्त सकल्पना है। अत उसे और एकमात्र यथार्थता के रूप मे प्रतिष्ठित करना दुहरी भूल होगी। जहा तक उसकी सापेक्ष प्रकृति को ध्यान मे रखा जाए, नय अत्यत उपयोगी सिद्ध होता है। किन्तु साख्यों और मीमासको के यहा नय को परम यथार्थ स्वीकार कर लेने से वह नयाभास बन जाता है।

सग्रह नय दो प्रकार का है– पर सग्रह (ultimate class) एव अपर सग्रह (inferior class)। प्रत्येक विद्यमान वस्तु मे यथार्थ प्रकृति समाहित होती है। अत. हम सभी वस्तुओ को अपनी परम यथार्थ सत्ता मे एक कह सकते है। यहा पर सग्रह है किन्तु इस परम यथार्थ सत्ता (ultimate reality) मे जीव और अजीव दोनो के विभिन्न समूह

समाहित है। अतः हम इन्हे विभिन्न सग्रह भी कह सकते हैं, यह अपर सग्रह नय है।

(3) व्यवहार नय .– व्यवहार नय का अर्थ है परम्पराबद्ध लोक दृष्टि। यह ठोस वस्तु जगत के इद्रिय बोध पर निर्भर होती है। चार्वाक् और बृहस्पति की प्राचीन भौतिकवादी विचारधारा का आधार यही व्यवहारनय है। ठोस वर्तमान जगत ही सम्पूर्ण सत्य की कसौटी है। विस्तृत अतीत और अनागत भविष्य अप्रामाणिक कल्पनाए हैं जो हमारे इद्रिय बोध से सिद्ध नही होतीं। स्मृति के माध्यम से अतीत मे झाँकना एवं आदर्शवादी पूर्वानुमान के माध्यम से भविष्य पर दृष्टि रखना दार्शनिक अनिश्चितताए है। यही बात सामान्य और विशेष जैसे बौद्धिक विश्लेषणो से प्राप्त वर्गो पर घटित होती है।

सामान्य इंद्रिय बोध से हम एक वृक्ष, अथवा एक पत्थर अथवा एक पात्र अथवा एक वस्त्र को देखते परखते है। ये सब प्रमाण द्वारा समर्पित एव व्यवहार या परम्परा द्वारा मान्य यथार्थ वस्तुए हैं। ये सामान्य है या विशेष ऐसा कौन सोचता–समझता है। इन तत्त्वमीमासात्मक अमूर्तताओ को लेकर दार्शनिक लोग क्यो परेशान हो? वस्तुओ की ठोस यथार्थता ही हमारे दैनिक व्यवहारिक जीवन के लिए उपयुक्त है और उनकी उपयोगितावादी कसौटी ही सैद्धान्तिक दृष्टि से सत्य है।

जैन चितक इस मत के आशिक सत्य को मानते हैं। प्रागण मे खडा वृक्ष, रास्ते मे पडा पत्थर, पानी से भरा पात्र और धारण किए हुए वस्त्र ये सब यथार्थ वस्तुए है। ये सब माया अथवा दृष्टि भ्रम नही है। उनकी यथार्थता हमारे ठोस अनुभव से सहबद्ध है। इतना कथन निश्चित सत्य और ग्राह्य है। किन्तु जो कुछ उपस्थित वर्तमान रूप मे नही है उसे अस्वीकारना, अतीत और भविष्य को नकारना और सभी दार्शनिक विचार सारणियो को पूर्णतः निरस्त कर देना, इन सबका अर्थ है सामान्य इद्रिय बोध के आगे तर्क बुद्धि का घुटने टेक देना तथा परम्परा का प्रशस्तिगान करना। अत. जैन चितन व्यवहार नय के अप्रामाणिक एव अतिरजित महत्त्व को नकारता है। किन्तु उसकी अच्छाई को तथा उसमे निहित आंशिक सत्य को मान्य करता है।

(4) ऋजु सूत्र :– संग्रह नय का सर्वथा विपरीत ऋजु सूत्र है। जहां सग्रह नय समस्त विभिन्नताओ की उपेक्षा करता है, ॠजु सूत्र निरंतरता और तादात्म्य की उपेक्षा करता है। यथार्थ गणितीय वर्तमान में एकाग्रित होता है। वह विशुद्ध क्षणिक होता है। इस दृष्टि से वह व्यवहार नय की तुलना में अधिक सकीर्ण होता है। कम से कम व्यवहार नय मे अवधि की उदारता है क्योकि वर्तमान वस्तुएं एव परम्परागत वस्तुएं दोनो ही यहां तक यथार्थ है। किन्तु ॠजु सूत्र नय से वस्तु वही है जैसी वह वर्तमान गणितीय क्षण मे है। वस्तु की समयावधि इस नय से अप्रामाणिक धारणा है। हमे जिसका सर्वथा निश्चय है वह है वर्तमान क्षण। बीता हुआ क्षण भी कुछ नही है और भविष्य क्षण भी नही।

यदि वस्तु यथार्थ है तो वर्तमान क्षण मे ही है। इस बिन्दु पर हमे ऋजु सूत्र मे और बौद्ध तत्त्वमीमांसा मे साम्य दिखता है। इसका और बौद्ध मत का लक्ष्य समान है– वस्तुओ के अपरिवर्तनीय तत्त्वमीमासात्मक अधःस्तर की मिथ्या धारणा को उघाडना। परिवर्तन रहित अध-स्तर की अवधारणा के दोष के निवारण हेतु बौद्ध तत्त्वमीमासा ऋजुसूत्र नय को अगीकार करती है तथा वर्तमान क्षण मे गुरूत्व केन्द्र को स्थापित करती है। इस प्रकार वह परिवर्तन और स्थायित्व के मध्य सतुलन साधने मे समर्थ होती है। परिवर्तन समयावधि मे होता है। वह समयावधि के साथ क्षणभगुरता मे सहभागी होता है। परिवर्तन यथार्थता के नैरन्तर्य में और एक क्षण मे उसकी सघनता मे अवश्य कुछ सच्चाई है। वेदान्त के प्रतिकूल परिवर्तन के उपेक्षित तत्त्व पर अति विशेष बल देने की प्रवृत्ति और फिर यथार्थवादी विचार शिविर मे अपनी जगह बनाने का प्रयास निस्संदेह प्रशसनीय तत्त्वमीमासात्मक साहस है। किन्तु यथार्थ को गणितीय क्षण के साथ अभिन्न समझना, परिवर्तन को एकमात्र यथार्थ मानने पर जोर देना एव उसे तत्त्वमीमासात्मक शून्य में जीवित/सक्रिय रखने मे अपने लक्ष्य से विचलित हो जाना है। यथार्थता के सम्बन्ध स्थापित करने वाले और एकसूत्री करने वाले नियमों को हानि पहुचाकर परिवर्तन हेतु यह गलत और अवाछित स्वर है। यथार्थता सिद्धांत के बिना परिवर्तन निरर्थक हो जाएगा। यह वही ऋजुसूत्रनय है जिसके प्रति जैन प्रणाली सजगता निर्दिष्ट करती है। यदि यथार्थता की यह

पार्श्विक कसौटी है तो यथार्थता स्वयं नष्ट हो जाएगी। **ब्रेडले** के सकेतित वाक्याश का प्रयोग कर आत्मघात कर लेगी।

(5) शब्द नय – शब्द पदो या नामो का अर्थबोध शब्द नय है। नाम हमारे मस्तिष्क की वह प्रक्रिया है जिससे कि किसी वस्तु विशेष को पहचाना जाता है। शब्द का अर्थबोध सर्वथा व्यक्तिगत धारणा रूप नही होता। गुणधर्म, सम्बन्ध एव क्रिया भाषा मे उपयुक्त शब्दो के प्रयोग से निर्दिष्ट होते है। अत शब्दो का विभक्तियो मे व्याकरण सम्मत विभेदीकरण तर्कपूर्ण आधार पर होता है। विशेष प्रकार का अर्थ विशेष प्रकार की विभक्ति से सायुज्य होता है। अत अर्थ की विभिन्नता पद–प्रयोग मे विभिन्नता से सम्बन्धित होती है।

पद–प्रयोग मे विचरण से अर्थ विचरण उत्पन्न हो जाता है। अत. पद और उसके अर्थ मे एक अन्तरग सम्बन्ध होता है। केवल विभक्तियो मे भिन्नता से ही अर्थ मे बडा परिवर्तन नही हो जाता है वरन् एक ही विभक्ति मे कुछ रूढ विचरण करने से अर्थ मे, भले ही वह थोडा हो, विचरण आ जाता है। पदो और उनके अर्थो मे सगति का सिद्धात ही व्याकरण के विज्ञान की नीव है। हम पहले ही कह चुके है कि इस व्याकरणीय सिद्धात मे अन्तर्निहित रूप से न्याय विद्यमान रहता है। भारतीय व्याकरण शब्द अर्थ विवेचन मे प्राय. अपनी युक्तियुक्त परिधि का अतिक्रमण कर न्याय और अर्द्ध तत्त्वमीमासा के विवेचन मे लीन हो जाते है। शब्द अर्थ प्रयोग मे इतना अतिरजित विश्वास न केवल तर्कहीन है प्रत्युत हमारे सहज बोध एव परम्परागत् विश्वास से टकराव को जन्म देता है इसीलिए जैन तर्कशास्त्रियो ने इस सिद्धात के अप्रामाणिक प्रयोग के विरुद्ध एक चेतावनी दी और शब्द तथा अर्थ के अन्त राम्बन्धो की एक पक्षीय धारणा के न्याय सकट की ओर ध्यान दिलाया।

उनकी युक्ति यही है। निस्सदेह, वैयाकरणो द्वारा अभिग्रहीत शब्द नय उसके प्रयोग द्वारा अनुमोदित होता है पर इसे अपवाद रहित शाश्वत (सर्वव्यापी) नियम मानना सापेक्ष और निरपेक्ष के अन्तर की उपेक्षा तथा सम्पूर्ण और समग्र सत्य की आशिक सत्य से पृथक् पहचान की उपेक्षा करना होगा। साधारणत प्रत्येक शब्द का अपना अर्थ होता है। "गाय" राजा से पृथक् है, न केवल शब्द प्रत्युत अर्थ

मे भी। पर यह भी सच है कि प्रकृति और व्युत्पत्ति की दृष्टि से भिन्न शब्द समरूपी वस्तुओ को इगित करते है। व्याकरणो द्वारा शब्दनय का अतिरंजित एव सर्वव्यापी प्रयोग शब्दकोष मे पर्यायवाची या समानार्थी को आसानी से समाहित नहीं कर सकता। पयार्यवाची या समानार्थी शब्दों में भी एक दूसरे से अक्षरत. भिन्नता होती है इसे कोई भी वैयाकरण नकार नही सकेगा। इस पर भी यदि कोई शब्दनय के अपने नियम पर अविचल आस्था रखेगा तो वह विसगति को अपनाने को बाध्य होगा। इस कठिनाई से उबरने का एक ही रास्ता है–शब्दनय सम्बन्धी जैन व्याख्या को स्वीकारना। जिसके अनुसार पद और उसके अर्थ का सबध एक सापेक्ष नियम है। सामान्यतः जो दृष्टात दिया जाता है, वह है–इद्र शुक्र एवं पुरन्दर तीनो समानार्थी पद है जो एक ही व्यक्ति, देवताओ के राजा की ओर सकेत करते है। इसी प्रकार व्युत्पत्ति की दृष्टि से ही नही जैसा उपर्युक्त दृष्टात मे है, बल्कि वचन, लिंग, पुरूष आदि की दृष्टि से भी भिन्नता रखने वाले पद एक ही वरतु को सूचित करते है। इस प्रकार पुष्य (पुल्लिग), तारा (स्त्रीलिग) एव नक्षत्र (नपुसक लिंग) लिगगत भिन्नता के होते हुए भी एक ही वस्तु "तारा" को अभिव्यक्त करते है। आशय यह है कि एक ही वस्तु को निर्दिष्ट करने वाले पद विभिन्न कारको से सम्बद्ध होते है तथा विभिन्न पुरूष और अर्थ मे प्रयुक्त एक क्रिया पद समान क्रियाकलाप को निर्दिष्ट करता है। पदो के तर्कसगत निहितार्थ के प्रति. विभक्ति रूपो की व्याकरणीय भिन्नताओ की गौण स्थिति जैनो द्वारा प्रस्तुत शब्द नय का मुख्य सिद्धात दिखाई देता है। यह दुहराना आवश्यक नही है कि व्याकरणवादियो के हाथों मे पडने से नय, एकात प्रयोग के कारण, भ्रष्ट होकर मिथ्या नय या शब्दाभास बन जाता है।

(6) समभिरूढ :– नामो में व्युत्पत्तिमूलंक विभिन्नता। पदों मे अपने मूल धातु के अनुसार विभिन्नता होना ही समभिरूढ नय है। यह शब्द नय का विशिष्ट अनुप्रयोग है। विशिष्ट होने के कारण ही पूर्व वर्णित नय से यह सकुचित एव अधिक अतिरजित होता है। सामान्य नियम के अनुसार एक भाषा मे सभी पद अपनी विशिष्ट और मौलिक पहचान रखते हैं। यह मौलिक पहचान ही विशिष्ट नामपद्धति या पारिभाषिक शब्दावली का कारण है। किसी शब्द की प्रथम व्युत्पत्ति धातु मूलो

के अर्थ प्रयोग से ही प्रमाणित मानी जाती है। निश्चित ही, इसका अर्थ नामों का स्वगुणार्थ नही है। स्वगुणार्थ या सम्पृक्तार्थ (connotation) नामो के अनुप्रयोग का क्षेत्र है जबकि धातुमूलो की विशिष्टता से नाम की व्युत्पत्ति ज्ञात होती है। जहा पूर्ववर्ती अर्थ प्रयोग तर्क संगत एवं सार्वजनीन है वहा पश्चात्वर्ती अर्थप्रयोग विशुद्ध व्यक्तिपरक एवं बहुधा संयोग परक होता है। भाषा के इतिहास का विज्ञान ऐसे नियम खोज सकता है जो शब्दकोष मे नामो की व्युत्पत्ति जानने मे सहायक हो सकते है। भाषा इतिहास के अध्येताओ के लिए निश्चित ही यह गौण नियम होगा। शब्द भंडार मे मौलिक भिन्नताए पता लगाना एव मौलिक धातु विभिन्नताओ से पदो की विभिन्नता के इतिहास की पडताल करना निश्चित ही प्रशंसनीय ध्येय है। भाषा के इतिहासविदो के लिए रोचक यह नाभिकीय विभिन्नता इतनी महत्वपूर्ण नही है कि अर्थप्रयोग के अन्य सभी व्याकरण सम्मत एव तर्कसम्मत नियमों को आख मूँदकर निगल लिया जाए। यहा पर जैन न्याय ने पुन नय को सापेक्ष रूप मे ही सामने रखा है जो भाषा इतिहासविदो द्वारा प्रस्तुत दावो की आवश्यक परिसीमा निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए, यह सच है कि गौ पद इद्र से भिन्न है। यह भिन्नता उनकी सबधित धातुमूलो मे देखी जा सकती है। अत. धातुमूल मे भिन्नता का परिणाम है पद मे सगत भिन्नता एव तदनुसार अर्थ मे भिन्नता। इस नय से ठीक–ठीक कहा जाए तो, इद्र, शुक्र एव पुरन्दर का आशय क्रमशः सर्वऐश्वर्यवान्, सर्वशक्तिमान एव शत्रुओ का विनाशक है। ये प्रत्यक्ष एव युक्तियुक्त विशिष्ट अर्थ उनकी व्युत्पत्तियों से अनुमोदित है। किसी पद के मौलिक एव प्रारंभिक अर्थ प्रयोग पर बल देना एक बात है और यह प्रस्तावित करना कि किसी पद को अपने सामान्य अनुप्रयोग मे सदैव और अनिवार्यत. मौलिक एव प्रारभिक बोध को ही व्यक्त करना चाहिए सर्वथा भिन्न बात है। मौलिक एव तात्कालिक भिन्नता से समसामयिक अनुप्रयोग तक रास्ता बनाते हुए सामान्य अर्थग्रहण तक की अप्रामाणिक छलाग इस नय ने लगाई है।

एवम्भूत नय :– यह अतिम नय पूर्ववर्ती नय का ही अग्र विशिष्टीकरण है। यह मात्र एक ऐतिहासिक सिद्धान्त है जिसमें उन्मत्त वेग है। इस सिद्धान्त के अनुसार मूल अर्थ सामान्यतः किसी पद का उपयुक्त

तात्पर्य नहीं होता। यहां तक कि धातुओं के अर्थों के भी अलग–अलग अनन्क्रम एव रूप होते है। वस्तु की अभिव्यक्ति हेतु प्रयुक्त अनेक रूपों एवं अनुक्रमों में कोई एक विशेष रूप ही किसी पद की धातु से भलीभॉति अभिप्रेरित होता है। यह अभिप्रेरित रूप ही किसी पद के विधिसम्मत अर्थ को समसामयिक प्रयोग से परिसीमित करता है। ठीक यही बात एक भिन्न प्रकार से सर्वथा भिन्न पद द्वारा भी निर्दिष्ट हो सकती है। उदाहरण के लिए "गौ" का आशय एक चलता फिरता पशु है। जो चलता है वह "गौ" है। जब पशु विश्राम कर रहा हो या लेटा हो तब उस पर यह पद प्रयुक्त नही हो सकता। गमन लेटे रहने से सर्वथा भिन्न स्थिति है अत. "गौ" पद का प्रयोग उस प्राणी के लिए कैसे होना चाहिए जो दो आधारभूत भिन्न अवस्थितियो मे हो। तर्कसगत अर्थ प्रयोग की दृष्टि से आधारभूत भिन्नता को पृथक् शब्द बंध द्वारा इगित करना चाहिए। एवम्भूत नय का यही विवाद है। वस्तु की निर्दिष्ट अवस्थिति या अभिवृत्ति पद द्वारा प्रकट होना ही चाहिए। यदि पद इस निर्दिष्ट अभिव्यक्ति के भी परे ले जाता है तो वह भ्रम और अनेकार्थकता को उत्पन्न करता है। तब भाषा वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को उद्घाटित करने की अपेक्षा उन्हे और प्रच्छन्न बनायेगी।

इस व्याकरण–तर्क सगत युक्ति को आशिक रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। एक परिपूर्ण शब्द भडार मे इसे नियम या सिद्धान्त माना जा सकता है। किन्तु हम जिस भाषा का प्रयोग करते है उसका विकास इतने कठोर सिद्धात के अनुसार नही होता। अस्तु यह पता करना कि वस्तुत· क्या अस्तित्वगत है तथा क्या होना चाहिए न्याय दृष्टि से एक भद्दी भूल ही साबित होगा। अतएव ठोस प्रयोग और रूढ अर्थ के सदर्भ से हटकर एवम्भूत नय की विवेचना अर्थहीन शब्दाडम्बर हो जाएगी।

जैन न्याय मे सप्त नयो की चर्चा हुई है। प्रथम चार अर्थ नय कहलाते है क्योकि वे ज्ञान की वस्तुओं (ज्ञेय) से संबंध रखते हैं। शेष तीन को शब्द नय कहते है। क्योंकि वे पद और उसके अर्थ से सबंध रखते है। इन्ही सप्त नयों को अन्य क्रम में भी समूहित किया गया है। पहले तीन को द्रव्य नय तथा अन्य चार को पर्याय नय माना गया है। द्रव्य नय का आशय है सत्तासूचक (द्रव्यार्थिक)

रूप तथा पर्यायनय का आशय है परिवर्तन अथवा अभिव्यक्ति सूचक–पर्यायार्थिक रूप।

इन नयों का जैन मत के अनेकातवाद मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभी मानव रचित विवरण एव पूर्वानुमान सापेक्ष तथा परिसीमित है क्योकि वे सीमित और अपूर्ण मनीषा से उद्भावित हैं। हमारी प्रतिदिन की बातचीत मे ही नही वरन् तत्त्वमीमासात्मक कथनो की भाषा में भी यदि पृष्ठभूमि से हटकर अपने ही प्रसगो और सम्बन्धो के परिप्रेक्ष्य मे अर्थ को सार्वभौमिक रूप दिया जाए तो व्यावहारिक असुविधा एव दर्शनशास्त्रीय सभ्रम उत्पन्न होगा। यथार्थ की अत्यन्त जटिलता को ध्यान मे रखकर जैन चितको ने अनेकात दृष्टि से बल देने मे कभी उदासीनता नही दिखाई। बहुमुखी यथार्थ का शब्दाकन बहुविध होगा ही। उनमे से प्रत्येक आंशिक सत्य होता है किन्तु कोई भी एक वस्तुत सत्य नही होता। दर्शन वह कथा है जिसमे एक हाथी है और सात अधे व्यक्ति हैं। प्रत्येक व्यक्ति हाथी के किसी एक अग को छूकर धारणा बना लेता है कि हाथी वैसा ही है, जैसा वह अनुभव कर रहा है। और जब यथार्थ उसके सकीर्ण चौखटे (फ्रेम) में नही समाता तो वह यथार्थ मे निमर्मतापूर्वक कतर ब्योत और खीचा तानी करता है ताकि यथार्थ को अपनी धारणा के अनुकूल बनाया जा सके। तब आभास एव सभ्रम रूप मे कतिपय असुविधाजनक वस्तुओ को नकारा जाता है। दर्शन मे प्रणाली निर्माण स्थगन शैया सहित यथार्थता के लिए व्यवस्था विधि सदैव रही है। किन्तु जो जानता है वह मानवीय दर्शनीय की सरलता पर मुस्करा देता है अनेकान्त वादियो द्वारा ईस्वी युग के कई शताब्दियो पूर्व ही यह क्रांतिक चेतावनी दे दी गयी थी कि गगन और पृथ्वी मे और भी अधिक वस्तुए है उनसे जो कि तुम्हारे दर्शन मे स्वप्नकल्पित की गयी है।

नयो का लेखा जोखा अपूर्ण ही रहेगा यदि हम आत्मा के स्वभाव के परीक्षण मे प्रयुक्त छह नयो की चर्चा नही करेगे। जैन तत्त्वमीमासा के अनुसार जीव अथवा आत्मा का स्वभाव चेतन है। जब आत्मा अपनी विशुद्ध दशा मे बाह्य विषयो से मुक्त होता है तब उसकी चेतना पूर्ण एव अत्यत विकसित होती है। यह आदर्श

सिद्धावस्था है। पर इस अवस्था में भी निज का स्वभाव जटिलता से मुक्त नही होता। परमज्ञान आनद में भी "निज" का द्रव्य स्वभाव बना रहता है। निजता अपने अनन्त गुणो से पृथक् और भिन्न नहीं है। अनन्त गुणो की धारिता की यह समृद्धि सिद्धि विषयक जैन अवधारणा का महत्वपूर्ण बिन्दु है जो कि वेदांत के शून्यवाद से, जिसके अनुसार परमयथार्थ सर्वगुण रहित होता है, विपरीत है। सर्वगुण रहित सत्ता एक रिक्त अमूर्तता है तो फिर उसे परम यथार्थ कैसे माना जा सकता है? यथार्थ और उसके गुणो में स्वकीय एकात्मता होती है, यह जैन तत्त्वमीमासा का केन्द्रीय सिद्धात है।

अत. निज की विशुद्ध और पूर्ण अवस्था एक ऐसी स्थिति है जिसे उपलब्ध किया जाना चाहिए। साधारणतया निज की सत्ता कुछ भिन्न होती है, उसकी महिमा न्यून होती है, और उसकी प्रफुल्ल कांति असगत परिस्थितियो और सीमाओ के कारण निस्तेज होती है। अपनी ही सामान्य दुर्बलताओ और प्रवृत्तियों के वशीभूत "स्व" अपने चारों ओर कुछ सूक्ष्म और कुछ स्थूल पौद्गलिक आवरण लपेट लेता है। यह पौद्गलिक आवरण आत्मा पर भार बनते है और उसे सीमाओ मे बॉधते हैं और फिर जीव के जन्म मरण का चक्र चलता रहता है। इस दशा मे जीव चेतनायुक्त मूर्तपिड होता है। इस सामान्य दशा मे वह अपने स्थूल शरीर की इन्द्रियो के माध्यम से ही व्यक्त होता है। मृत्यु और पुनर्जन्म के मध्य के अतराल में अपनी अमूर्त दशा में वह यद्यपि स्थूल देहावरण से विमोचित हो जाता है, फिर भी वह सूक्ष्म कार्माण शरीर से सम्पृक्त होता है। यही कार्माण शरीर अगले जन्म मे मूर्त शरीर के संघनन मे नाभिक का कार्य करता है। इस प्रकार के जीव को सोपाधि जीव कहते है। तथा सोपाधि से मुक्त परिपूर्ण जीव को निरूपाधि जीव कहते है।

अपनी सासारिक अवस्था मे जीव न केवल अपने ही शरीर से सायुज्य होता है अपितु अनेकानेक जीवित और अजीवित वस्तुओ से भी होता है। जिस परिवेश में वह जीता है, चलता–फिरता है, अपना अस्तित्व बनाए रखता है, वह उसके अपने शारीरिक ढाँचे से अधिक विस्तृत होता है। पशुओ और पक्षियो मे भी स्व पोषण की प्रेरणा के अतिरिक्त भी परिवेश के प्रति व्यापक आकर्षण पाया जाता

है। सतान के पोषण और सहायता की जनक सुलभ प्रेरणा तथा अपने जनक पर निर्भर रहने की सतानसुलभ प्रेरणा सभी जीवों में पाया जाने वाला वह जैविक आधार है जिससे मानव जाति मे परिवार सस्था का विकास हुआ है। मानव समाज मे आकर स्व के बाह्य परिवेश मे विस्तार का क्षितिज अधिक स्पष्ट हो जाता है। अनेक आर्थिक और सामाजिक संस्थाए, जैसे सम्पत्ति पर निजाधिकार, अथवा विशेष सामाजिक स्थिति या राष्ट्र का सदस्य होना, मनुष्य के व्यक्तित्व को परिवेश के साथ तादात्म्य स्थापित करने की दिशा में विस्तृत करती है। निज सम्पत्ति की वृद्धि से मनुष्य आनद और गर्व का अनुभव करता है। व्यक्ति जिस परिवार या राष्ट्र का सदस्य होता है उसकी समृद्धि अथवा विपत्ति से क्रमश आनन्द या शोक की सहानुभूति प्रकट करता है। अतएव व्यक्तित्व की प्रकृति व्यक्ति मे रूचि रूझान के विस्तार एव विविधता से निश्चित होती है। हम क्षुब्धता का अनुभव करते है जब हमारे स्वत्व को क्षति पहुचती है। जब कोई हमारे प्रिय और निकट सबधी के साथ दुर्व्यवहार करता है तो हमे अपना ही अपमान हुआ प्रतीत होता है। हमारा "स्व" जो अपने आप में जटिल बुनावट है, और भी जटिल हो जाता है जब वह परिवेश की वस्तुओ एव व्यक्तियो के प्रति अपने रूचि रूझानो के माध्यम से अपनी पहचान ढूढता है। इन परिस्थितियो मे आत्मा का स्वभाव और उसकी उपयुक्त परिसीमा की खोज एक अत्यन्त कठिन प्रश्न है। अत नयो के अनुप्रयोग की आवश्यकता अपरिहार्य है। पूर्व वर्णित नय, स्व की परिसीमा को परिभाषित करने और उसके स्वभाव को विवेचित करने के उद्देश्य से ही विशेष रूप से अभिकल्पित किए गए है।

नय के दो मुख्य पक्ष है—निश्चय नय और व्यवहार नय। निश्चय नय का अर्थ है सत्य और पूर्ण दृष्टि। इसके अनुसार द्रव्य और गुण मे कोई पृथकत्व नही है। "स्व" को अनत गुणो से युक्त एक परिपूर्ण रूप मे देखा जाता है। व्यवहार नय अपूर्ण दृष्टि है। "स्व" के जटिल स्वभाव को उसके विविध गुणो मे विश्लेषित कर हम अपना ध्यान किसी एक गुण विशेष पर केद्रित करते है, ऐसा गुण जो उस क्षण स्व को अभिव्यक्त करता है। निश्चय नय को आगे दो रूपों में बाटा गया है—शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय। शुद्ध निश्चय नय मे आत्मा को शुद्ध और निरूपाधि अवस्था मे देखा जाता है।

पौद्गलिक परिवेश एव परिसीमाओ से सर्वथा असलग्न आत्मा अपने अनन्त गुणो और ऐश्वर्य के साथ अपनी मूल काति विकीर्ण करती है। जहां आत्मा अपने गुणो मे अवस्थित है तथा गुण शुद्ध और आत्मा के स्वभाव के निर्मल रूप मे है, वहा शुद्ध निश्चय नय है। अशुद्ध निश्चय नय मे आत्मा पौद्गलिक परिवेश के जाल में ग्रस्त सोपाधि अवस्था मे होती है। उपाधि की उपस्थिति उसे अशुद्ध बनाती है। आत्मा की अन्तवर्ती आभा मलिन होती है। फिर भी अपने विजातीय प्रभावो से आवरित आत्मा के प्रभाव को उसके असख्य गुणों के माध्यम से जाना जाता है। यह अशुद्ध निश्चय नय से आत्मा का दर्शन है।

इसी प्रकार व्यवहार नय को दो भागो मे बाटा गया है, सद्भूत व्यवहार और असद्भूत व्यवहार। सद्भूत व्यवहार से आशय वस्तु के अन्तर्वर्ती स्वभाव से है। यहा वस्तु की शुद्धता या अशुद्धता का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नही है। व्यवहार शब्द जैसा कि पूर्व मे समझाया गया है द्रव्य मे रहने वाले गुणो का विश्लेषण, एव पृथकत्व ध्वनित करता है। ज्ञान या विचार आत्मा का गुण है। ज्ञान को आत्मा का पर्याय कहना सद्भूत व्यवहार नय को अगीकार करना है। असद्भूत से आशय है आत्मा मे विजातीय गुणो का आरोपण करना। अनेक जैविक प्रेरणाएं एव सवेग विशिष्ट पौद्गलिक सरचना के कारण भिन्न-भिन्न दिखाई देते है। ऐसी प्रेरणाए और मनोवेग असद्भूत व्यवहारनय के कारण ही आत्मा से सायुज्य प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार कार्मिक अवयव (पुद्गल कर्म वर्गणाएं) जो मूलत. पौद्गलिक होते है, आत्मा के कहे जा सकते हैं एव उसके आविर्भाव को रूपातरित करते हैं।

इनमे से प्रत्येक को पुन. दो गौण रूपों मे बाटा गया है—उपचरित एव अनुपचरित। उपचरित वह प्रयोग है जो परम्परा से पवित्र माना गया है, इसका अन्य कोई तात्त्विक औचित्य नहीं होता। यह एक प्रकार का लाक्षणिक अनुप्रयोग है जबकि अनुपचारित ठीक विपरीत है। वह अपनी तात्विक श्रेष्ठता पर निर्भर होता है तथा लाक्षणिकता एव स्थानान्तरित आरोपण से मुक्त होता है। इस प्रकार चार प्रकार के व्यवहारनय होते है.—

1 – अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय
2 – उपचरित सद्भूत व्यवहारनय
3 – अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय
4 – उपचरित असद्भूत व्यवहारनय

अब इनमे से व्यवहार प्रमुख है क्योकि वह वस्तु के लक्षणों का विश्लेषण करता है, सद्भूत है क्योकि वह प्रामाणिक और अन्तरंग लक्षणो पर बल देता है, तथा अनुपचरित है क्योकि वह प्रतीकात्मक (figurative) और स्थानान्तरित निहितार्थ से मुक्त है। इसका दृष्टांत है आत्मा जो ज्ञान स्वभावी है। दूसरा नय उपरोक्त कारण से व्यवहार है, उपरोक्त संगत कारण से ही सद्भूत है और उपचरित इसलिए है कि विशेषण प्रतीकात्मक और स्थानान्तरित है। जब हम प्रमाण के रूप में ज्ञान को व्यक्त करते है, हम ज्ञान के विषय अर्थात अर्थ के बारे मे चितन करते है। अर्थ को अपने आप में ज्ञान विकल्प कहा जा सकता है। बाह्य वस्तुओ के सन्दर्भ मे अर्थ को ज्ञान का रूपातर कहना प्रतीकात्मक सत्य है। ये विषय भौतिक प्रकृति मे अचेतन होने पर भी ज्ञान के श्रेय होने से ज्ञान के ही पर्याय कहे जाते है। "स्व" से जो अन्तरग रूप मे सम्बद्ध है वह ज्ञान प्रक्रिया द्वारा निर्मित सबध के कारण विषय वस्तु को स्थानान्तरित होता है। तीसरा नय है अनुपचरित असद्भूत व्यवहार। केवल असद्भूत पद की व्याख्या अपेक्षित है। यह परकीय गुणो से पृथक् स्व की पहचान की ओर सकेत करता है। उदाहराणार्थ शरीर को ही "स्व" मानना, जैसा कि साधारण रूप से जीवन में होता है – असद्भूत व्यवहार है। यह मात्र प्रतीकात्मक नही है क्योंकि यह वक्तव्य आत्मा और देह के निकट अन्त सबध से उद्भूत है। अत यह शरीर मेरा है या मै इस शरीर का हू वह वक्तव्य है जो अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से समर्थित है। अतिम नय है उपचरित असद्भूत व्यवहार। यहा परकीय गुण अथवा वस्तु जिसके "स्व" को पहचान' जाता है, आत्मा और शरीर के बीच विद्यमान अंतरग संबध से रहित होता है। आभूषणो को अपना कहना, कुछ व्यक्तियो को स्वय से सबधित समझना, कुछ वस्तुओं को स्वय की सम्पत्ति मानना, साररूप मे अपने व्यक्तित्व को परकीय वस्तुओ और व्यक्तियो से अभिन्न मानना प्रतीकात्मक अर्थ मे ही सम्भव है। प्रत्येक व्यक्तित्व विशिष्ट है एव अन्य से परकीय है यद्यपि

सभी सहअस्तित्व के आधार पर एक सामान्य परिवेश मे सहभागीय होते है तथा निश्चित संबधो मे आबद्ध होते है। फिर भी तत्त्वमीमासात्मक दृष्टि से अपनी नियति अपने हाथों में है। अतः स्व का सामान्य अभिज्ञान अन्य वस्तुओ के *साथ करना प्रतीकात्मक और* स्थानान्तरित कथन है जिसे उपचरित असद्भूत व्यवहारनय कहा गया है। इस प्रकार व्यवहारनय के चार प्रकार निश्चय नय के दो नयो के साथ मिलकर छ नयो का विधान करते हैं जो मानव व्यक्तित्व की गहराई की थाह लेने के लिए विशेष रूप से नियोजित किए गए है।

इन नयों का उद्देश्य पूर्ववर्ती सात सामान्यतः एव उत्तरवर्ती छ. का विशेषतया मनोरजक परिवेश मे व्यक्तित्व की अतरग प्रकृति को उद्घाटित करना है। यह केवल सैद्धातिक अभिरूचि का विषय नही है, जो कि इन नयो के मूल मे है। यथार्थ की प्रकृति का बोध और अनुभव नि श्रेयस परम आनद से पूर्ण मोक्ष तक, जहा से पुनरागमन सम्भव नही, पहुचने का स्वहेतु एक उपयोगी साधन है। पर इस व्यावहारिक पक्ष के अतिरिक्त इस समस्या का एक पक्ष और है। प्रमाणो और नयो से ग्रहीत सत्य सामान्य जनों को भी सुलभ होना चाहिए। जो शोक के भार के नीचे दबे हुए विकास करते है तथा उस सुख के लिए सदैव लालायित होते है जिसे वे केवल आस्था और आशा के द्वारा जानते है। अत सत्य को श्रुत ग्रंथों के द्वारा व्यक्त करने की आवश्यकता होती है। भाषा के माध्यम से सत्य का उद्घाटन ही शब्द (word) या स्याद्वाद है। स्याद्वाद का अर्थ है सापेक्ष कथन का सिद्धान्त जिसके सात आयाम है। इस सप्त आयामी कथन शैली को सप्तभगी कहते है।

सप्त भंगी
कथन की सात भंगिमाएं

स्याद्वाद की द्वन्द्वात्मकता (dialectic) सभी नये पुराने दर्शन के भारतीय विद्यार्थियो के लिए उससे कम पहेली नही है जितनी कि यूरोपीय दर्शनशास्त्रियो के लिए हीगेल की द्वन्द्वात्मकता। स्याद्वाद और उसका प्रतिपक्ष, प्रथम दृष्टि मे अप्रामाणिक एवं अन्तर्द्वन्द्व से पूर्ण दिखाई देता है। पर वह एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त ही नही वरन्

अधः संरचना (substratum) एव न्याय प्रतिपादन की दृष्टि से यथार्थ का आधारभूत सिद्धान्त है। सूक्ष्म परीक्षण करने से सप्तभंगियों में सत्य का स्पष्ट बोध प्रकट होता है। ज्ञान के अन्य सभी वाद सापेक्ष कथन के सिद्धान्त के आगे अपनी क्षुद्रता के कारण निस्तेज हो जाते है।

ऊर्ध्व में स्थित दैदीप्यमान स्वर्ग से लेकर मानव व्यक्तित्व के अन्तरतम तक प्रत्येक अस्तित्वगत वस्तु निरतर परिवर्तन और रूपान्तरण की प्रक्रिया मे सलग्न है। यदि हमे विश्वास हो खगोलविद् की कल्पना पर जिससे वह कई कल्प पीछे लोक के इतिहास मे झाँकने मे सक्षम होता है अथवा सुदूर भविष्य की झलकिया देख पाता है तो हमे सारा लोक अस्तित्व के रजत पट पर गतिशील चलचित्र के समान प्रतीत होगा। आज का चमचमाता सितारा कभी कई लाख मील व्यास का भीमकाय धुँधला (nebulous) धूल पिड था। बाद मे एकत्रीकरण और सघनन की प्रक्रिया शुरू हुई। जिससे एक सघन नाभिक का निर्माण हुआ जो उक्त प्रक्रियाओ से और बडा होता गया। फलस्वरूप असीम मात्रा मे ऊष्मा उत्पन्न हुई। इस घटना से विशाल अग्निपिंड का निर्माण हुआ और फिर इसी पिड ने गति के नियमों के अधीन अनेक प्रदीप्त पिडो को जन्म दिया। ये सभी पिड गुरूत्वाकर्षण के नियम के आधीन अपने जनक पिड से बधे रहकर सौर्य मडल की रचना करते है। हमारा सूर्य इस तारा मडल का एक तारा ही है।

अपने तारा मडल के साथ सूर्य के उद्भव के समानान्तर एक विपरीत नाटक भी चलता दिखाई देता है। किसी रहस्यपूर्ण विस्फोट अथवा तारो की परस्पर टकराहट के कारण नया तारामडल (nebula) अस्तित्व मे आता है। दूरबीनो से अवलोकन करने पर दूरस्थ सौर्य जगत का न केवल उद्भव बल्कि जीर्ण शीर्ण और मृतप्राय तारो का क्षय और विलीनीकरण दिखाई दिया। तारो के इस लोक की रचना उस अक्षरमाला से हुई है जिससे तीन महत्वपूर्ण शब्द बनते है।, उत्पत्ति (जन्म), वृद्धि और क्षय (विनाश)।

अब हम अपनी पृथ्वी की ओर चले जो सूर्य और अन्य तारों की तुलना मे एक छोटा सा बिन्दु कण है। यहा भी वही प्रक्रिया

विद्यमान है। पृथ्वी के प्रारभिक इतिहास मे हुए भीषण ज्वालामुखीय उथल पुथल के कारण ही भूपृष्ठ का निर्माण हुआ है। भू–वैज्ञानिक परिवर्तनों के बाद पृथ्वी तल पर जीवन के लक्षण प्रकट हुए और फिर पृथ्वी के विभिन्न पृष्ठो पर पादप जगत और प्राणी जगत के उद्‌भव की अद्‌भुत कहानी अमिट अक्षरों में लिखी गई। इस कहानी में भी वही प्रक्रिया समाहित है। जीवन भी निर्माण और विनाश की मिलीजुली प्रक्रिया का रहस्य लोक है। जहा भी देखोगे यही पाओगे। यथार्थ परिवर्तन की जटिल प्रक्रिया है और उसमें हर वस्तु इसी परिवर्तन विधि से होकर गुजरती है।

कुछ भी नही है मात्र स्थिर और कुछ भी नही है मात्र परिवर्तनशील। एक बीजाणु ओक के रूप में विकसित होता है, एक बीज विशाल वृक्ष में बदल जाता है पर बीज तब बीज नहीं रह जाता। मृत्यु से जीवन का जन्म होता है। कुछ खो जाने पर ही कुछ मिलता है। जैविक यथार्थ सबधी यह सदेश दर्शन के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण योगदान है।

हीगेल ने इसी तर्क पर अपनी तत्वमीमासा प्रस्तुत की बल्कि दोनो (प्रक्रियाओ) की पहचान की। पर उसका तर्क मात्र पाडित्यपूर्ण तर्क नही है, जिस पर उसके पूर्ववर्ती दार्शनिक काट ने अपने मत का प्रतिपादन किया था। हीगेल का तर्क तत्कालीन दार्शनिक विचारधाराओ की शाति भग करने वाला सिद्ध हुआ पर अन्ततः उसने विचारो को पाडित्य की दासता से मुक्त किया। उसने विश्व के समक्ष दृढतापूर्वक घोषणा की कि विधेय और निषेध अन्तत· एक उच्चतर एकता मे समाहित है, "है" और "नही है" वस्तुत. समान और समरूपी है क्योंकि वे एक ही यथार्थ के दो पक्ष हैं। वाद (thesis) और प्रतिवाद (antithesis) के सामजस्य से उत्पन्न उच्चतर सम्वाद (synthesis) की इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से जो सुपरिचित होगा उसे सप्तभगी की प्रस्तुति मे कोई विरोधाभास दिखाई नही देगा बल्कि वह उसमे अन्तर्निहित सत्य को अन्वेषित कर सकेगा।

बहुत पहले जैनों ने अस्तित्व की इस जटिलता को समझ लिया था। किसी भी वस्तु विशेष से सबधित एक निश्चयात्मक कथन को भलीभाँति दो प्रकार के कथनो में बाटा जा सकता है–

विधेयात्मक एवं निषेधात्मक। एक तथ्य के विषय मे दो कथन जो प्रत्यक्षतः विरोधी हो सत्य कैसे हो सकते है? इस प्रश्न का उत्तर तथ्य की प्रकृति मे छिपा है। प्रत्येक मूर्त कथन के पीछे वस्तु के ठीक स्वभाव से संबंधित एक प्रश्न की पूर्वकल्पना होती है। यह प्रश्न वस्तु को किसी दृष्टिकोण विशेष से निर्धारित करने की इच्छा पर निर्भर होता है। वस्तु के अनेक पक्ष एव संबध होते हैं अतः अनेक प्रकार के निर्धारण भी होते है। इस प्रकार एक ही वस्तु मे परस्पर विरोधी लक्षण प्रकट होने की संभावना होती है और उन्हे प्रकथन प्रक्रिया से दर्शाया जा सकता है। एक मूर्ति सगमरमर की है। या प्लास्टर ऑफ पेरिस की? यदि वह किसी एक से निर्मित है तो दूसरे से निर्मित नही होगी। क्या यह वही स्वर्ण कगन है जो पिछलेवर्ष खो गया था। नही यह नवनिर्मित है यद्यपि वही स्वर्ण प्रयुक्त हुआ है। सुकरात ग्रीक था या रोमन? वह ग्रीक था रोमन नही। अब कैसर (सम्राट) क्या है? वह है फिर भी कैसर नही है। ये कुछ सगत प्रश्न और उनके उत्तर है इन सबमे एक ही वस्तु के विधेय पक्ष एवं निषेध पक्ष की सभावना उपस्थित है। समान विषय को "है" अथवा "है नही" से स्पष्टतया निर्दिष्ट किया जा सकता है। ध्यान रखने योग्य बात यह है कि प्रत्येक प्रसग मे दृष्टिकोण भिन्न है। इसमे कुछ भी रहस्यपूर्ण अथवा अविश्सनीय नहीं है। जब तक विषय के दो कथन हो तो कोई एक कथन उस विषय पर अपना एकाधिकार नही जमा सकता। किसी भी कथन मे विषय का कोई पक्ष छूट ही जाता है और यह छूटा हुआ पक्ष प्रतिकथन से अभिव्यक्त हो सकता है। इसका आशय है कि किसी भी स्थिति मे ऐसा कथन सभव नहीं है जो वस्तु विशेष के विषय मे एकमात्र सत्य कथन हो। किसी प्रसग मे कोई भी निष्कर्ष सर्वथा सत्य एव अन्य सभी निष्कर्षो को त्याज्य नही माना जा सकता। अतः हम एक स्थिति मे सभव किसी अनेक मे से एक सार्थक कथन का ही आश्रय ले पाते हैं। ये सार्थक कथन प्रारभिक रूप से दो रूप विधेय और निषेध मे होते हैं।

1 – स्यात् अ है।

2 – स्यात् अ नही है।

क्योकि ये दो पक्ष एक ही वस्तु मे हैं अतः कह सकते हैं।

3 – स्यात अ है और नही है। यहां हम वस्तु के दोनों पक्षो का, जो एक दूसरे से दूर हैं तथा जिनको पृथक्–पृथक् माना जाता हैं, विचार कर रहे है। ये दोनो पक्ष जन्मजात होते हैं तथा एक ही अभिज्ञान को अभिव्यक्त करते हैं अतः दोनो पक्षो को परस्पर सम्बद्ध जानना चाहिए। इस दशा में "दो" को एक कथन से निश्चयपूर्वक व्यक्त करना सभव नहीं होगा। क्योंकि सीधा सा कारण है कि ऐसा एक कथन सभव ही नही है। अतः हमे अपनी असमर्थता स्वीकार करना चाहिए और निश्चयात्मक कथन के प्रसग में हमें शब्द भडार के दिवालियापन की घोषणा करना चाहिए। इसी तथ्य से कथन की चौथी भगिमा सामने आती है।

4 – स्यात् अ अवक्तव्य (शब्दो मे वर्णनीय नहीं) है। हमारी भाषा की इस असहाय प्रकृति को ध्यान मे रखते हुए प्रथम तीन कथनों को अर्थसीमित कर सकते है। इस प्रकार हमे कथन की तीन और भगिमाए मिलती है।

5 – स्यात् अ है यद्यपि अवक्तव्य (Indescribable) है।

6 – स्यात् अ नही है यद्यपि अवक्तव्य है।

7 – स्यात् अ है और नही है यद्यपि अवक्तव्य है।

कथन की इन सात भगिमाओ को एक घडे के दृष्टात से प्राय समझाया जाता है। घडे के संबध मे कथन हो अथवा निषेधात्मक कथन वह क्रमश· चार पक्षो पर निर्भर करता है। घडे का आकार, पदार्थ, स्थान एव काल जो उसे विधेय भी बनाते है और निषिद्ध भी। स्वरूप स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र एव स्वकाल की अपेक्षा से घड़ा यथार्थ है, पररूप, परद्रव्य, परक्षेत्र तथा परकाल की अपेक्षा से घडा अयथार्थ है, अस्वीकृत है। जब हम तर्क के आधार पर विधेय और निषेध कथन करते है तो इन दोनो से कुछ पूरक भंगिमाएं प्रकट होती है। परम्परागत रूप से इन्हे निम्नलिखित प्रकार से वर्णित किया गया है स्यात्अस्ति, स्यात्नास्ति, स्यात्अस्तिनास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात्अस्ति अवक्तव्य, स्यात्नास्ति अवक्तव्य, स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य।

1 – घडे का स्वरूप क्या है? और उसका पररूप क्या है? जब घडा शब्द सुनते है तो इस पद से जुडे निश्चित लक्षणों का बोध होता

है जो अपरिवर्तनीय है तथा जिनसे वस्तु विशेष का गठन हुआ है। घडे शब्द से संकेतित ये सभी अनिवार्य लक्षण ही उसका स्वरूप है। किसी अन्य पद से संकेतित किसी अन्य वस्तु के लक्षण घडे के पररूप है। वस्तु की सत्ता स्वरूप है और असत्ता पररूप है। यदि घडे की सत्ता का उसके स्वरूप के साथ ही पररूप जैसे वस्त्र से अभिव्यक्त किया जाए तो घडा अपना विभेदक चरित्र ही खो बैठेगा और वस्त्र समझा जाएगा। दूसरी ओर यदि पररूप की अपेक्षा अपने स्वरूप से अस्तित्वहीनता प्रकथित की जाती हो तो घडा किसी भी रूप मे अस्तित्वशील न रहेगा। इन परिणामों मे से कोई भी तर्क सगत नही है।

अब हम बर्तनो के प्रकारो पर विचार करे तो हम पाते है कि घडा केटली से भिन्न है। कोई बर्तन घडा है या केटली। घडे के लिए घडे का आकार उसका स्वरूप है, केटली का आकार उसका पररूप। पूर्वापेक्षा से वह घडा है और उत्तरापेक्षा से नही है।

अब हम केवल घडो की बात करे। एक घडा अपना स्वरूप रखता है और प्रत्येक दूसरा घडा उसके लिए पररूप है। यदि असत्ता स्वरूप से सायुज्य हो तो घडा होगा ही नही, यदि सत्ता पररूप की अनुवर्ती हो तो सभी घडे एकरूप हो जाएगे उनकी पृथक् विशेषता समाप्त हो जाएगी।

घडे का निर्माण कुम्हार करता है। कुम्हार के चाक पर रखा हुआ मिट्टी का पिड घडा नही है। अतिम रूप से निर्मित वस्तु ही घडा है। यह अतिम रूप ही उसका स्वरूप है। निर्माण प्रक्रिया के बीच की अन्य सभी अवस्थाये उसका पररूप है। स्वरूप विधेय कथन है और पररूप निषेध कथन।

2 – घडा किस द्रव्य से निर्मित है? मिट्टी उसका स्वद्रव्य है और स्वर्ण परद्रव्य। घडा मिट्टी का है सोने का नही।

3 – घडे का अपना क्षेत्र (स्वक्षेत्र) क्या है? घडा जिस स्थल पर रखा है, वह उसका स्वक्षेत्र है, इसके अतिरिक्त प्रत्येक अन्य स्थल परक्षेत्र है। ताजमहल का स्वक्षेत्र आगरा है और दिल्ली उसके लिए परक्षेत्र है। यदि घडा परक्षेत्र मे भी हो तो फिर कोई भी क्षेत्र घडे से रहित

नही हो सकता। इसी प्रकार सभी स्थानों पर ताजमहल होगा। यदि वस्तु अपने ही क्षेत्र में नही है तो फिर लोक मे घडा कहीं भी नहीं होगा। ये दोनो निष्कर्ष बुद्धिसगत नहीं है।

4 – घड़े का स्वकाल क्या है? घडे का स्वकाल वह कालावधि है जिसमे घडा विद्यमान है। वह अतीत जब घडा कुम्हार के चाक पर रखा मिट्टी का लौदा (पिंड) था और वह भविष्य जब वह बिखरकर खपडों का ढेर हो जाएगा, उसका परकाल है। स्वकाल मे उसकी सत्ता और परकाल मे उसकी असत्ता एकदम स्पष्ट है। यह बात सभी वस्तुओ/व्यक्तियो पर लागू होती है। सुकरात एथेन्स के इतिहास के युग विशेष मे जीवित था। पर अब नही है। यदि कोई वस्तु स्वकाल एव परकाल मे साथ–साथ हो तो वह शाश्वत होगी, यदि वह स्वकाल मे न हो यद्यपि परकाल मे रही हो तो वह वस्तुतः नहीं है। क्योकि सत्ता का काल से संबंध होता है।

इस प्रकार एक वस्तु रुप, द्रव्य, क्षेत्र और काल के चार (भाव) आयामी स्व सबध से विहित होती है। तथा चार आयामी पर सबधो से निषिद्ध होती है।

स्वरूप आदि का निर्धारण पररूप आदि के चार आयामी सदर्भो मे होता है। अन्य सबधो से पृथक् स्व सबंधों का कोई अर्थ नहीं होता। किन्तु प्रश्न उठता है कि हम पररूप, परद्रव्य आदि सबधों का निर्धारणं कैसे करे। ये पर्यावरणीय सबधो पर निर्भर होते है। पर्यावरणीय संबध भी अन्य संबधो पर। इस प्रकार हम अपने पर्यावरण से अन्यों की ओर स्व संबध की किसी स्पष्ट समझ के बिना, विस्तार करते जाते हैं। एक वस्तु और उससे अन्य (पर) का भेद अनैतिक और अनिश्चित अधः पतन के रेतीले आधार पर टिका होता है। अस्तु विधेय और निषेध दोनो ही औधे मुह गिर पडते है।

यह आक्षेप मिथ्या बोध पर आधारित है। चार आयामी स्व सबध और पर सबध का भेद अनिश्चित अधःपतन पर निर्भर नही है। किसी वस्तु के मौलिक स्वभाव में ही न केवल उसका स्वरूप समाहित होता है बल्कि वह स्वयं का पररूप से भिन्न रूप भी रखता है। अपनी अनुभूति में हम केवल वस्तु का बोध ग्रहण नही करते किन्तु उसकी अन्य वस्तुओं से भिन्नता का बोध भी ग्रहण करते हैं। घडा केवल

घडा ही दिखाई नहीं देता बल्कि वस्त्र से भिन्न भी दिखाई देता है। इस भिन्नता के बिना घडे का बोध सभव ही नही है। स्व कथन की प्रक्रिया मे पर से विभेद अन्तर्निहित होता है। अस्तु अनिश्चित पतन का आरोप सर्वथा अप्रामाणिक है।

इस मत के अनुसार ज्ञान के वस्तुगत रूप (प्रमेय) का अस्ति और नास्ति की शैली में कथन किया जा सकता है। यह द्विविध प्रकथन प्रमेय के स्वरूप और पररूप पर आधारित होता है। उसका स्वरूप क्या और पररूप क्या है? प्रमेय के पररूप का अर्थ है अप्रमेय। अतः अप्रमेय होने से इस प्रसग मे यह मत असफल होना चाहिए।

तर्कशास्त्री कहते है नही। ज्ञान द्वारा ग्रहीत वस्तु की दशा प्रमेय का स्वरूप अर्थात् प्रमेयत्व है। सामान्य रूप से इसमे वस्तु का ज्ञाता के साथ संबध अन्तर्निहित होता है। इस सबध के सिवाय वस्तु भी प्रमेयत्व से भिन्न होती है। अत. इस प्रसग मे वह पररूप होती हैं। यह मत परमसत्ता या महासत्ता पर अनुप्रयुक्त किया जा सकता है। यदि परमसत्ता (summum genus) के विषय मे भी अस्ति–नास्ति कथन किया जाए तो उसका स्वरूप–पररूप क्या है? पररूप कुछ हो नही सकता क्योकि परमसत्ता किसी अन्य रूप, द्रव्य, क्षेत्र या काल मे नही होती। अपने आप के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का अस्तित्व महासत्ता के पररूप को समाहित नहीं करता। स्वविरोधाभास होगा फिर भी हम उसके पररूप के विषय मे कह सकते है कि जब हम इस सर्वसमाविष्ट लोक की किसी अपूर्णता का चितन करते है। अत. अपूर्णता का एक अश भी जो सम्पूर्णता का निषेध करता है, उसका पररूप है।

अतएव अस्ति "स्व" पर और नास्ति अन्य पर निर्भर है। स्व से अनुबधित अस्ति का सबंध वस्तु से सुस्पष्ट होता है। परन्तु घडे के अतिरिक्त अन्य वस्तु से अनुबधित नास्ति घडे का ही कथन करती है। तब ऐसा आशय निकलता है कि घडा अन्य वस्तु जैसे वस्तु के स्वरूप मे सम्मिलित होता है। इस स्थिति मे भ्रम होता है।

यह आक्षेप भी मिथ्या बोध पर टिका है। निरसदेह अस्ति स्व (घडा) के स्वरूप पर आधारित है। नास्ति अन्य (वस्त्र) पर आधारित

हैं। नास्ति अन्य (वस्त्र) पर आधारित है पर इसका यह अर्थ नहीं कि घडा वस्त्र का स्वरूप धारण करता है। यह तो व्यर्थ तर्क है। इससे तो वस्तुओ के बीच का सुस्पष्ट अंतर ही समाप्त हो जाएगा और सारा ज्ञान भी। अस्ति मे स्वकथन समाहित और नास्ति में परद्रव्य अपवर्तित। एक वस्तु न केवल व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करती है, वरन् अन्य को विकर्षित भी करती है। अपकर्षण का यह तत्त्व कि यथार्थ होने के लिए प्रत्येक वस्तु उसे रखे, जो नकारात्मक प्रकथन की अभिव्यक्ति दे। भ्रम उत्पन्न करने के बजाय विभेद का यह तत्त्व ही वस्तु के स्वकथन का एकमात्र आधार है। अस्ति और नास्ति, प्रकथन एव अपवर्जन एक ही वस्तु के दो अविच्छिन्न पहलू हैं। जहां अस्ति है वहा नास्ति भी है और जहा नास्ति है वहा अस्ति भी है।

अब एक ही वस्तु मे अस्ति और नास्ति की सह उपस्थिति एकदम अप्रामाणिक प्रतीत होती है। क्योकि जब हम एक ओर घडे को देखते है तो नास्ति रहित केवल अस्ति को देखते है और दूसरी ओर असंभव और अयथार्थ अवधारणा जैसे गधे के सीग या आकाश कुसुम के प्रसग मे केवल नास्ति है, अस्ति नही।

यह तर्क ठीक नही है। किसी बोधित वस्तु के प्रसग मे नास्ति का अर्थ यह नही है कि वस्तु इस रूप मे अस्तित्वगत नहीं हो सकती फिर भी उसका बोध होता है। यह अर्थहीन है। नास्ति का अर्थ विभेदन और अपवर्जन के उस तत्व से अधिक नही है जो एक वस्तु की उसकी पृष्ठभूमि मे पृथक् पहचान बनाता है तथा उसे सुनिश्चित और विधेयात्मक स्वरूप प्रदान करता है। इस अर्थ मे नास्ति अस्ति से पृथक् नही है और उसका प्रयोग जिस अर्थ में किया जाता है वह महत्वपूर्ण है। असंभव और अयथार्थ अवधारणा के प्रसग में विधेयात्मक आधार ही कहा है? यदि आकाश कुसुम यथार्थ है बल्कि उस मे किंचित् भी विधेयक यथार्थ हो तो उसे असभव और अयथार्थ वस्तु कैसे कहा जा सकता है। उसका स्वरूप तो पूर्ण निषेधात्मक से अधिक कुछ नही है। हमारे नैयायिक कहते है – यह नहीं हो सकता। बिना वैशिष्ट्य के निषेध कैसे सभव है? एक वैशिष्ट्यपूर्ण निषेध का कोई विधेयात्मक आधार होना चाहिए। अन्यथा वह मूर्खतापूर्ण होगा। अवधारणा के सघटक तत्व अपने आप में यथार्थ एव अनुभव की प्रामाणिकता से समीचीन होते हैं। हमने गाय के सीग

देखे हैं। तथा गधे या घोड़े को भी देखा है। ये यथार्थ और अस्तित्वगत है। किन्तु गधे के साथ सींग और आकाश के साथ फूल का काल्पनिक सयोग अयथार्थ है। पर गाय के सिर पर सीग अथवा वृक्ष मे खिले हुए फूल के अनुभव के बिना कोई गधे के सींग और आकाश में खिले फूल की कल्पना भी नहीं कर सकता। अनुभव के विधेयात्मक आधार के बिना जटिल कल्पनाजन्य बिम्ब को रचने वाले तत्त्व भी नहीं होगे। अत. एकश्रग और किन्नर की कल्पनाओ का कुछ न कुछ अनुभवजन्य आधार होगा। फिर "स्यादस्ति जीव" प्रतिज्ञप्ति मे अस्ति पद और जीव पद का अर्थ एक ही समरूप वस्तु से है या भिन्न वस्तुओं से। यदि उनका अर्थ समान प्रकृति से है तब एक वस्तु दूसरे के बारे में कथन नही हो सकती। प्रत्येक यथार्थ वस्तु की कथनीयता अस्ति है। यदि अस्ति जीवसे समरूप है तो जीव भी प्रत्येक वस्तु का प्रकथन होगा। किन्तु यदि जीव "अस्ति" से भिन्न हो तब जीव के अस्ति प्रकथन का कोई अवसर नही रहता है, क्योकि वे एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न है। आगे जीव प्रत्येक वस्तु के प्रकथन रूप होने से अस्ति एव नास्ति से विलग है, अत. जीव को किसी यथार्थ वस्तु से सबधित नही किया जा सकता है। अर्थात् जीव अयथार्थ हो जाएगा। आप नही कह सकते है कि यद्यपि जीव अस्ति से भिन्न है, अस्ति का प्रकथन उसके साथ सम्मिश्रणविधि से प्रकथन होना कहा जा सकता है, क्योकि अपकर्षण वाले अवयवो के सम्बन्ध मे सयोग असम्भव है। सीगो की इस द्विविधा को स्याद्वाद ने कुठित बना दिया है। ये निष्कर्ष उन तार्किको को आतंकित नहीं करते जिनके लिए अस्ति और जीव द्रव्यार्थ दृष्टि की अपेक्षा से समरूप तथा पर्यायार्थ की अपेक्षा से भिन्न रूप हैं। वे भिन्न होकर भी समरूप है। किन्तु इस द्वैत प्रकृति के कारण कोई भी प्रकथन सभव नहीं है। सपत्भगतरगिणी से लिया गया यह विवेचन हमें ब्रेडले के "आभास और यथार्थता" मे प्रकथन के सिद्धान्त पर विवेचन की याद दिलाता है।

प्रकथन की तीन प्राथमिक भंगिमाएं हैं:-

स्यादस्ति, स्यात्नास्ति और स्यात्अवक्तव्य। इन्हीं तीन के समुच्चय से शेष चार भगिमायें भी प्राप्त होती है। साख्य दर्शन के

अनुसार प्रत्येक वस्तु यथार्थ है और इसीलिए अस्ति है। बौद्धमत से प्रत्येक वस्तु क्षणिक है और अयथार्थ है। जैनो ने इन दोनो मतों को अतिवाद मानकर अस्वीकार किया है। साख्य मत द्रव्यार्थिक दृष्टि से सही है जबकि बौद्धमत पर्यायार्थिक दृष्टि से सही है। अतः दोनो अपने अपने दृष्टिकोण से सही होने पर भी परम सत्य नही है। वेदात प्रबलता से यथार्थ को अवर्णनीय कहता है। यह भी आंशिक सत्य है क्योकि यह प्रकथन कि यथार्थ अनिर्वचनीय है, सभव नही है।

वस्तु के गुणधर्मों के इन युग्मों के प्रसंग में प्रकथन की सातों भंगिमाओ को देखा जा सकता है। शाश्वत् और परिवर्तनशील, एक और अनेक, सामान्य और विशेष आदि। विपरीत गुणो के इन युग्मों से यथार्थ को भलीभॉति अभिव्यक्त किया जा सकता है। और इन्हीं से प्रकथन की अन्य व्युत्पन्न भगिमाए उत्पन्न हो सकती हैं। अतएव अस्ति के प्रत्येक गुणधर्म को विभिन्न अपेक्षाओ से स्वीकारने और नकारने से यथार्थ विषय की सातो मौलिक प्रतिज्ञप्तियों को सत्य कहा जा सकता है।

इसके पश्चात् भी कोई कह सकता है कि सप्तभगी का सिद्धात निरर्थक स्वविरोध मे मनमानी आसक्ति है। इस आक्षेप का उत्तर पर्याप्त विस्तार से दिया जा चुका है। यह मनमाना विरोधाभास अथवा निरूद्देश्य श्लेष नही है। यदि शब्द अप्रामाणिक अर्थ मे मनमानी व्याख्याए है तो उसे मनमाना शब्द जाल कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ यह वक्तव्य कि इस व्यक्ति के पास एक नव कम्बल है अब कोई कहे कि नव का अर्थ सख्यावाचक नव है तो इस संदर्भ मे यह अर्थहीन होगा। यद्यपि नव शब्द की ऐसी व्याख्या भी होती है। पूर्वापर सबंध को छोडकर यदि कोई उक्त वक्तव्य का झट से प्रत्युत्तर दे – "यह व्यक्ति नव (नौ) शाल रख ही नही सकता क्योकि वह बहुत गरीब है" तो यह मनमाना शब्द जाल ही होगा। सप्तभगी ऐसा अनुशासनविहीन शब्द जाल नही है।

यदि वह अनुशासनविहीन शब्द जाल नहीं है तो (क्या) फिर वह सदेहो की अभिव्यक्ति मात्र है। ऐसा कहना कि एक वस्तु है भी और नहीं भी, अपने सदेह और अज्ञान को प्रकट करना ही है। यह

सिद्धान्त एक प्रकार का सशय वाद है। संशयवाद का यह आक्षेप सर्वथा निराधार है। सदेह का अर्थ होता है सुनिश्चित ज्ञान का अभाव। यदि किसी वस्तु के प्रत्यक्षीकरण से दो व्याख्याए सामने आए और यह निर्धारित करने मे हम असमर्थ हो कि कौन सी सही है तो उस वस्तु के प्रति हमे सदेह होगा। चूकि हमे वस्तु स्वरूप का ज्ञान नहीं है इसलिए सदेहवाद का जन्म होगा। किन्तु सप्तभगी के आधार पर परस्पर विरोधी कथनों मे हमारे पास दो भिन्न पक्ष होते है, तथा प्रत्येक पक्ष एक कथन को सुनिश्चित आधार प्रदान करता है। अस्तु यहा न तो सदेह है और न भ्रम। प्रत्येक अभिकथन स्पष्ट और सुनिश्चित है।

शंकर और स्याद्वाद

भाष्य का **थिबो** (Thibauts) द्वारा अनुवाद – "यह सिद्धान्त हमे ऐसा प्रतीत होता है–" एक वस्तु मे "असभाव्यता के कारण" हम कहते है कि तुम्हारा तर्क अग्राह्य है। कहने का आशय यह है कि एक ही वस्तु मे एक ही समय मे परस्पर विरोधी गुणो, जैसे "होना" और "न होना" की विद्यमानता सभव नही है। क्योकि हमारा अनुभव हमें बतलाता है कि कोई वस्तु एक साथ ठडी और गर्म नही हो सकती। तुम्हारे द्वारा प्रस्तुत सात भगिमायें भी, या तो अनेक होगी और है या अनेक नही होगी और है, और तीसरा विकल्प इन शब्दो मे अभिव्यक्त कि "वे ऐसी है भी और ऐसी नही भी" अनिश्चित प्रकृति के बोध को उत्पन्न करेगी जिससे सत्य के बोध के स्थान पर शका बनी रहेगी। यदि तुम यह तर्क दो कि एक वस्तु के अनेक रूप निश्चित है और इसलिए सत्य बोध का स्रोत है, तो हम उसे नकारते है क्योकि यह कथन कि सभी वस्तुए अनैकातिक (अवर्जित) रूप मे होती है अपने आप मे ऐसा कुछ है कि वैकल्पिक कथनो की श्रेणी मे आता है। किसी प्रकार वह है, किसी प्रकार वह नही है और इस प्रकार वह निश्चित कथन रूप से नही रह जाता है। यही बात लागू होती है प्रकथनकर्त्ता व्यक्ति पर और प्रकथन के परिणाम पर। आशिक रूप मे वे है और आशिक रूप में नही हैं। तब तो ज्ञान का साधन, ज्ञेयवस्तु, ज्ञायक व्यक्ति, एव ज्ञान प्रक्रिया सब समान रूप से

अनिश्चित होंगे। फिर तीर्थंकर (जिन) कैसे अधिकारपूर्वक उपदेश दे सकते है और उनके अनुयायी, द्रव्य सिद्धांत पर जो कि सर्वथा अनिर्धारित है कैसे चल सकते हैं। ध्यानपूर्वक देखने पर पता चलता है कि जब किसी क्रियाबोध/क्रियाविधि का निश्चित परिणाम ज्ञात होता है तो लोग बिना झिझक उसमे लग जाते है। अतएव एक मनुष्य जो सर्वथा अनिश्चित अन्तर्वस्तु के सिद्धांत का समर्थन करता हो उसको सुनना एक मदान्ध पुरूष या स्त्री को सुनने जैसा ही है। यदि हम जैन तर्क को उनके ही पॉच अस्तिकायो (categories) के सिद्धात पर लागू करें तो हमे कहना होगा कि एकदृष्टि से वे पांच है और दूसरी दृष्टि से पाच नहीं हैं। दूसरे दृष्टिकोण से वे या तो पाच से कम है या पांच से अधिक। अस्तिकायों को अवक्तव्य घोषित करना तर्कसगत नही होगा क्योकि यदि वे अवक्तव्य हैं तो उनका निर्वचन सम्भव नही है पर चूकि वास्तव मे उनका निर्वचन किया गया है अतः उन्हे अवक्तव्य कहना विरोधाभास में फसना है। इस पर भी यदि तुम कहो कि अस्तिकाय अमुक के अभिनिश्चय के लिए ही वर्णित किये गये है। अथवा अमुक के अभिनिश्चय के लिए नहीं वर्णित किये गए है और यह कि उनका परिणाम पूर्णज्ञान का अभिनिश्चय है अथवा पूर्ण ज्ञान का अभिनिश्चय नहीं है तथा यह भी कि अपूर्ण ज्ञान, पूर्णज्ञान का विपरीत है अथवा विपरीत नहीं है। तब तुम निश्चित रूप से मर्यादित और विश्वसनीय व्यक्ति की तरह नहीं बल्कि उन्मत्त और मदमत्त व्यक्ति की तरह प्रलाप कर रहे हो कि स्वर्ग और मोक्ष होता है अथवा नही होता है तथा शाश्वतता है या नही है तो इस प्रकार के कथनो मे जो निश्चयात्मक ज्ञान का अभाव है वह किसी मनुष्य को स्वर्ग अथवा मोक्ष प्राप्ति के लिए अभिप्रेरित कैसे करेगा। तुम्हारे सिद्धात से यह बात भी उठती है कि जीव अथवा अजीव इत्यादि से तुम किसी प्रकृति का अभिनिश्चय करते हो और अनादिकाल से तुम जिसका अस्तित्व स्वीकार करते हो, वह सब परम अनिश्चय की दशा में तुरन्त ध्वस्त हो जाएगा अतः अस्ति और नास्ति के दो प्रतिकूल लक्षण किसी एक विचार से सम्बद्ध नहीं हो सकते। अस्ति नास्ति से रहित था, नास्ति अस्ति से रहित होता है--अतः अर्हत् का सिद्धांत त्याज्य है।

रामानुज और सप्तभंगी

(थिबो (Thibauts) का अनुवाद है)

इसकी सहायता से वे प्रमाणित करते है कि सभी वस्तुए जो उनके विचार से अस्तित्वशील और द्रव्य पर्यायो से समाविष्ट एक है और चूंकि वे द्रव्य है इसलिए वे नित्य हैं तथा चूकि वे पर्याय है इसलिए उनकी विपरीत स्थिति भी है। पर्याय से उनका आशय है द्रव्यो की विशेष अवस्थाए। क्योकि पर्याय है भी और नही भी इसलिए वे प्रमाणित करते है कि सत्ता और असत्ता इत्यादि हैं। इस तारतम्य मे सूत्र कहता है कि ऐसा प्रमाण सभव नही है। एक मे असभाव्यता के कारण अर्थात् सत्ता और असत्ता जैसे परस्पर विरोधी लक्षणों की एक ही वस्तु मे एक ही समय मे उपस्थिति सम्भव नही है जैसे कि प्रकाश और अधकार एक साथ नही होते। जैनियो के अनुसार चूकि द्रव्य और उसकी पर्याय भिन्न वस्तुए (पदार्थ) है अत एक द्रव्य को विपरीत लक्षणो से कैसे जोडा जा सकता है। इस प्रकार यह कैसे सम्भव है कि कोई एक द्रव्य जो सत्ता की विशिष्ट पर्याय मे विद्यमान है उसकी/उसी काल में असत्ता की विशिष्ट पर्याय से भी सम्बद्धता हो। इसके आगे एक द्रव्य का अस्थायित्व अपने भीतर उन विशेष पर्यायो को स्थान देता है जिन्हे उत्पाद और व्यय कहते है तब प्रतिकूल स्वभाव का स्थायित्व उसी क्षण किसी द्रव्य मे कैसे टिक सकता है? विरोधाभासी लक्षणो से युक्त वस्तुओ मे भिन्नता पाई जाती है। अभिन्नता जो कि भिन्नता का विपरीत लक्षण है, उसी वस्तु मे जो कि भिन्नता से युक्त है, कैसे मिल सकती है? एक घोडे और एक भैस के जातीय लक्षण किसी भी एक प्राणी मे कैसे मिल सकते है? किन्तु (जैन यहा वेदातियो से पूछ सकते है) तुम यह विश्वास कैसे बनाए रखते हो कि ब्रह्म जो कि एक है उसी क्षण सबके भीतर सभी के स्वरूप में कैसे होता है? इसका उत्तर हम इस प्रकार देते है कि सभी चेतन और जड पदार्थो का समग्र समुच्चय ही सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् इत्यादि परम पुरूष के शरीर का निर्माण करता है। देह और देहधारी तथा उसके सम्बन्धित लक्षण सर्वथा विभिन्न प्रकृति के होते है। अत देह की दुर्बलताए बाह्म को स्पर्श नही करती हैं। हमने इस प्रकार समझाया है। और भी, तुम्हारे छः द्रव्य जीव आदि चूकि एक नहीं है, एक पर्याय भी नही है, न तो एक इत्यादि प्रमाणित किए

जा सकते है और न 'नही इत्यादि हैं' प्रमाणित किए जा सकते है और फिर ऐसा कहा जाए कि उक्त छ· द्रव्य ऐसे है कि एक भी है और अनेक भी, क्योकि प्रत्येक की अपनी पर्याय और अपनी प्रकृति है तो हमारी अभ्युक्ति है कि तुम अपनी प्रत्येक वस्तु के सदिग्ध प्रकृति वाले सिद्धान्त को विसगतियो से बचा नही पाओगे। पारस्परिक अस्तित्व हीनता के सम्बन्ध से एक दूसरे के साथ अभिमुख वस्तुए अन्ततः समरूपी नही हो सकती है। जैनो का सिद्धान्त तर्कसगत नही है।

उक्त दो उद्धरण वेदान्त सूत्र के दो महान् हिन्दू भाष्यकार शकर एव रामानुज से लिए गए है। भाषित सूत्र है– (नैकरमीन्न**असंभवात्**) (अध्याय–1, पाद–2, सूत्र–33)। वेदान्त सूत्र के रचयिता और उसके भाष्यकारो ने सप्तभगीनय को एक ही वस्तु मे परस्पर विरोधी लक्षणो की उपस्थिति की असभाव्यता के आधार पर अस्वीकार किया है।

विवेचना और प्रतिपादन की शैली मे ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसी से इन विद्वानो द्वारा उठाई गई आपत्तियो से सप्तभगी के स्वत्व अधिकार को न्यायसंगत व निर्दोष सिद्ध किया जा सकेगा।

हमारा प्रयास अधूरा ही रहेगा यदि इन आपत्तियो पर विचार न किया जाए। सूत्रकार ने सूत्र मे समाविष्ट के अतिरिक्त कि एक वस्तु मे स्व–विरोधी लक्षण विद्यमान नही हो सकते अन्य कोई विशद कारण प्रस्तुत नही किया। अस्ति और नास्ति, विधेय–निषेध, परस्पर विरोधी विशेषण होने से किसी एक वस्तु को निर्दिष्ट नही कर सकते। अतएव इस प्रकार प्रकथन का सिद्धान्त निरर्थक है। यह तर्क यद्यपि सक्षिप्त है फिर भी रोचक एव सुझावात्मक दिखाई देता है। हम जैनो द्वारा अभिग्रहीत दार्शनिक प्रवृत्ति पर प्रकाश डाल चुके है। एक वस्तु अपनी जटिल प्रकृति के कारण द्रव्य और पर्याय वाली होने से विभिन्नता मे तादात्म्य रूप (identity in difference) होना चाहिए। प्रस्तुत तर्क के आधार पर यथार्थ के सिद्धान्त को नकारने के स्थान पर वे यह दावा करते दिखाई देते है कि यथार्थ केवल इसीलिए यथार्थ है कि उस स्वय में भिन्नताओं को सम्मिलित एव समन्वित करने की क्षमता होती है। यहा हमे "वस्तुओ की प्रकृति" के विरुद्ध **ब्रेडले** के खण्डन मण्डन की याद आना स्वाभाविक है। यद्यपि वह

भिन्नता में तादात्म्य संबधी **हीगेल** के सिद्धान्त को स्वीकार करता है किन्तु भिन्नता और तादात्म्य संबंधी मध्यकालीन पांडित्य परम्परा को भूल नहीं पाता। **ब्रेडले** के अनुसार सभी मूर्त व्यक्ति एवं वस्तुए विविधता में एकता, भिन्नता में तादात्म्य एवं स्थिर में विचरण भी दर्शाती हैं। अब ब्रेडले का तर्क है कि वस्तुओ की इस प्रकृति मे स्व–विरोध एवं आंतरिक सघर्ष अन्तर्निहित है। ऐसा इस कारण है कि हमें यह जान पाना असभव है कि विभिन्नता किस प्रकार तादात्म्य (identity) से निसृत एव निबद्ध होती है। अतः वह ऐसी बातों की निंदा आभासो के उपेक्षित स्थल की तरह करता है।

हमने **हीगेलीय** तादात्म्य सिद्धान्त एव जैनो के अस्ति नास्ति सिद्धान्त मे सादृश्यता पर पहले भी ध्यान खीचा है। किन्तु हम यहां स्पष्ट रूप से सचेत कर देना चाहते है कि जैन सिद्धान्त **हीगेल** की तत्त्वमीमासा को सम्पूर्णतः स्वीकार नही करता। **ब्रेडले** से विपरीत हीगेलीय परमवाद के सबसे महान् जीवत प्रतिनिधि जैन चितक यथार्थ के इस महत्वपूर्ण पक्ष पर विशेष बल देते हैं। **ब्रेडले** जिस तर्क से वस्तु को आभासी (माया) मानकर निदित करता है उसी तर्क से जैन चितक उसी की यथार्थता की उद्घोषणा करते है। भाष्यकारो पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है अत. हम उनकी आलोचना का विशद परीक्षण करेगे। शकर की आलोचना के प्रमुख तीन चरण है। प्रथम–वह इस सिद्धान्त की आंतरिक असभाव्यता को इंगित करते है। दूसरा–इसकी व्यावहारिक निरर्थकता की ओर संकेत करते हैं और तीसरा–इस सिद्धान्त का अन्य अनेक जैन सिद्धान्तों से विरोध। जिस प्रकार एक ही वस्तु को ठडा अैर गर्म नही कहा जा सकता उसी प्रकार अस्ति और नास्ति एक ही वस्तु को नहीं कहा जा सकता। परस्पर विरोधी और असंगत लक्षण एक ही वस्तु में एक ही समय मे विद्यमान नही हो सकते। यह आक्षेप अनुत्तर प्रतीत होता है। पर यदि हम स्व–सबध और परसंबंध के दोनो पक्षो को ध्यान मे रखें तो आसानी से दिखाई देगा कि उक्त आक्षेप ठोस आधार पर नहीं टिके है। बहुधा हम अपने सामान्य दैनिक अनुभव में ऐसे उदाहरण पाते हैं जिसमें सहवर्ती लक्षण सार रूप से स्वविरोधी रहते हैं। वृक्ष की शाखाएं हलचल करती है जबकि सम्पूर्ण वृक्ष एक इंच भी टस से मस नही होता। यहा वृक्ष गतिमान होते हुए भी गतिमान नहीं है।

वही एक ही व्यक्ति 'अ' का पिता होता हैं और 'ब' का पुत्र। अब आप क्या तर्क देंगे कि एक ही व्यक्ति पिता भी है और पुत्र भी। पितृत्व और पुत्रत्व के दो विरोधी लक्षण एक ही व्यक्ति मे उपस्थित होना एकदम बुद्धिगम्य है। इसी प्रकार अपनी ही प्रजाति के सदर्भ मे जो प्राणी समूह वंश या कुल का भाग है वही प्राणी अपने से उच्चतर वंशों के सदर्भ में प्रजाति की हैसियत रखता है। अधिक उदाहरणो की आवश्यकता नही है। इसके बाद भी एक वस्तु मे परस्पर विरोधी लक्षणों की असम्भाव्यता का समर्थन करते रहना निरर्थक ही होगा। आधुनिक पाठको के लिए यह आश्चर्य का विषय है कि शकर जैसे प्रखर चितक ने अपने प्रतिद्वन्द्वी द्वारा प्रस्तुत विशिष्ट पक्ष को अनदेखा करते हुए अपना मत व्यक्त किया।

अपने मत को प्रमाणित करने के लिए सामान्य अनुभव निवेदित कर समर्थन जुटाने के बाद शकर सप्तभगी के सिद्धान्त के विरूद्ध अनिश्चितता का आक्षेप लगाते है। हम पूर्व प्रसग मे अनिश्चितता के दोषारोपण का उत्तर दे चुके हैं। यहा इतना ही कहना पर्याप्त है कि यदि निश्चितता से शकर का आशय निरपेक्ष और परम कथन है तो अनिश्चितता स्याद्वाद का दोष होने के बजाए निश्चित रूप से उसका उत्कृष्ट बिन्दु ही होगा। अपने विवेचन मे स्याद्वाद के आलोचको ने ऐसे विशेषणो का उपयोग किया है जिन्हे हम आज की भाषा मे असंसदीय कह सकते है। हम उन पर बिना ध्यान दिए आगे बढते हैं क्योकि एक तो उनके तर्क की मुख्य तर्क से सगति नही है और दूसरे उस युग मे तर्क और शब्दआडबर के तालमेल को सभवतः वाद विवाद मे न्यायोचित अस्त्र के रूप मे मान्यता प्राप्त थी।

इस सिद्धान्त की "व्यावहारिक निरर्थकता" के विषय मे हम कुछ कहना चाहते है। उनका तर्क इस प्रकार है। प्रत्येक सैद्धातिक मत का एक व्यवहारिक पक्ष भी होता है। भारतीय चितक इस दृष्टिकोण पर विशेष बल देते हैं। सभी भारतीय दार्शनिक अपने मत वैभिन्न्य के बावजूद इसे दर्शन का आधारभूत सत्य स्वीकार करते है कि तत्त्वमीमांसा जीवन के परमलक्ष्य को उपलब्ध करने मे सहायक नैतिक धार्मिक आदर्श की अनुगामिनी है। अत. कोई भी मत जो अपनी देशना में अनिश्चित और संदिग्ध हो इस परिणामवादी कसौटी पर

खरा नहीं उतरेगा। चूंकि हमने पहले ही सदिग्धता के सैद्धान्तिक आक्षेप को स्वीकार नहीं किया है अत. हमे उसकी व्यावहारिक परिणति पर अधिक समय नष्ट नही करना चाहिए।

अन्य जैन सिद्धान्तों के साथ सप्तभंगी के अनुप्रयोग पर विचार करे। ये हैं पाच अस्तिकाय और परिणामी दिव्य सुख सहिता–अतिम मुक्ति की अवधारणा। शकर बतलाते है कि इस तर्क के अनुसार तो पांच अस्तिकाय पाच भी है और पाच नहीं भी। यह निष्कर्ष निश्चित रूप से जैन नैयायिकों को किकर्त्तव्यविमूढ नही करेगा। यदि उन्हे बहुविध निर्दिष्ट किया जाए तो वे पॉच है। यदि उन्हे एक पुज या एक वर्ग के रूप मे माना जाय तो वे एक है। यदि उन्हें विभिन्न आधारो पर वर्गीकृत किया जाए तो वे दो (अजीव और जीव) भी हो सकते है। अतः इन अस्तिकायो का कोई सुनिश्चित आकिक लक्षण नही है। इन अस्तिकायो को निर्दिष्ट करने मे सख्या की भिन्नता स्वविरोध उत्पन्न करने के लिए नही बल्कि यह स्पष्ट करने के लिए है कि निदर्शन परिवर्तित किस दृष्टि से किया जा रहा है। अपने प्रतिवादी से मत खण्डन की चरमसीमा में शकर (सबसे तीखा) प्रश्न करते है कि दिव्य लोक (मोक्ष स्वर्ग) की क्या स्थिति होगी यदि वह है भी और नही भी, नित्य है भी और नही भी। उनका प्रतिवादी इस प्रसग मे वही कहेगा कि जो सप्तभगी तरगिणी के रचयिता ने कहा है कि "यदि तुम कहते हो कि परलोक एक ही स्थिति वाला हो सकता है (या तो है ही अथवा नही ही है) तो एक कठिनाई उपस्थित होगी। यदि अन्तिम मुक्ति और दिव्य सुख ही नित्य और अस्तित्व रूप मे विद्यमान है तो फिर ससार के लिए अवसर और मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयास नही रहेगा। यदि इसका अन्य विकल्प ही केवल सत्य है तो फिर आदर्श को पाने के उपदेश का क्या प्रयोजन जो सर्वथा असभव है।" मनुष्य अपूर्ण है और सम्पूर्ण होना चाहता है यह मात्र काव्य पक्ति नही बल्कि प्रामाणिक दर्शन है। चूकि मुक्ति वह लक्ष्य है जिस ओर सम्पूर्ण दृष्टि गतिशील है इसलिए वह सत्य है, यथार्थ है पर चूकि वह अभी लक्ष्य मात्र है, वस्तुत. क्रियान्वित (परिणमित) स्थिति नहीं इसलिए वह सत्य और यथार्थ नहीं। इस सिद्धान्त पर इतना प्रचण्ड आक्रमण क्यो किया गया यह हमारी समझ से परे है। रामानुज के यहा एक भिन्न प्रकार का तर्क मिलता है कि

वे प्रतिवाद करते हुए भी प्रतिवादी के मत को स्वीकारते है। वे यह भी मानते है कि पर्याय का अर्थ परिवर्तनशील (अनित्य) है और द्रव्य शाश्वत् (नित्य) है। यह भी ठीक सकेत करते हैं कि स्याद्वाद का सिद्धात द्रव्य और पर्याय के दो रूपो पर आधारित है। इतनी दूर आकर आलोचक के लिए सबसे अच्छी बात तो यही है कि वह इस बात (मत) को अगीकार कर ले अथवा यदि वह मत को नकारना ही चाहता है तो उसे यह प्रमाणित करना चाहिए कि वस्तु के दो पक्ष द्रव्य और पर्याय नही होते। इन दोनो प्रयासो से हटकर रामानुज सूत्र का बचाव ऐसे नियम के आधार पर करते हैं कि जो एकदम लचर और अप्रामाणिक है। वह सिद्ध करने का प्रयास करते है कि द्रव्य की अपेक्षा से भी किसी वस्तु का अस्ति और नास्ति कथन नही किया जा सकता। उनके अनुसार एक ही द्रव्य के दो कथन नहीं हो सकते। निश्चित ही उसके नही होते। जैन न्याय भी यही दावा करता है। पर यदि वस्तु को उसके दोनों पक्षो से देखा जाए और वह भी रिक्त अमूर्तताओ की उपेक्षा करते हुए देखा जाए तो दोनो कथन हो सकते है और दोनो होना ही चाहिए।

भिन्नता मे एकता के इस सिद्धान्त को नकारने के प्रयास मे रामानुज की अन्तर्दृष्टि से यह छिपा नही है कि उनका ही वेदान्त मत किस प्रकार प्रभावित हुआ है। एक अभिप्राय से वेदातीय तत्त्वमीमासा "एक" का सिद्धान्त है और अनेक का भी। यदि यथार्थ एक ही समय मे एक भी है और अनेक भी तो वेदान्तवाद स्याद्वाद के पक्ष मे यथोचित प्रमाण है। किन्तु शकर के विपरीत जो अनेक को माया मानकर निरस्त कर देते है, रामानुज अपनी तत्त्वमीमांसीय धारणा मे बधकर भी अनेक की यथार्थता को स्वीकार करते है। फिर अनेक मे एक की क्या प्रासगिकता है? वे जैनो के समक्ष पूर्व पक्ष रखते है। तुम यह कैसे विश्वास कर पाते हो कि ब्रह्म यद्यपि एक है पर वह उसी समय सबका आत्म भी है। वह पूर्व पक्ष का उत्तर इस प्रकार देते है। "सभी चेतन और अचेतन अस्तियों का समग्र समूह परमपुरूष के देह का निर्माण करता है, तथा देह और पुरूष सर्वथा भिन्न प्रकृति के होते है।" यह अत्यन्त अविश्वसनीय विजय है। यदि देह परिमित वस्तुओ से निर्मित है तथा पुरूष बाह्य का परिणाम है,

रामानुज यही मानते है, तो यह शरण एकदम असुरक्षित है। क्योंकि फिर प्रतिवादी ठीक ही प्रश्न करेगे कि परिणाम या देह यथार्थ है या भ्रम (माया)। यदि माया है तो रामानुज का भाष्य शंकर का ही अनावश्यक पुनरावृत्ति मय दुहराव होता है और यदि यथार्थ है तो वह स्याद्‌वाद की दृष्टि से यह मानने को बाध्य होंगे कि यथार्थ पुरूष की अपेक्षा से एक है और परिणाम या देह की अपेक्षा से अनेक है।

परिपूर्ण विवेचन हेतु हम पाठको से सप्तभंगी तरंगिणी ग्रंथ पढने का आग्रह करते है। जहा से हमने इस निबंध मे सामग्री ली है।

एक और बिन्दु की चर्चा के बाद हम यह अध्याय समाप्त करेंगे। **बर्ट्रेन्ड रसेल** ने तार्किक परमाणुवाद विषय पर अपने अमेरिकी भाषणो मे वस्तु परक तथ्य विषयक मेनरॉग के सिद्धान्त को विचारोत्तेजक शैली में विकसित किया है। मेनरॉग के अनुसार प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति का, वह सत्य हो या मिथ्या, एक आधार होता है जो वस्तुपरक तथ्य होता है। क्योकि उसके सत्यपरक मूल्य से पृथक् एक बुद्धिमत्तापूर्ण तर्क भी हो सकता है अत कोई वस्तुपरक आधार भी होना चाहिए। इस सिद्धात में वस्तुपरक तथ्यो के दो समुच्चय निहित है। एक सत्य प्रतिज्ञप्तियो के लिए और दूसरा मिथ्या के लिए। चूँकि दोनो वस्तुपरक है अतः उनमे से प्रत्येक की नियत पहचान क्या है जिससे एक सत्य के लिए है और दूसरा त्रुटि के लिए है? इस प्रकार सत्य के प्रश्न को उत्तर दिए बिना ही आगे बढा दिया जाता है और हमें वे वस्तुपरक तथ्य स्वीकार करने पडते हैं जो मिथ्या और त्रुटिपूर्ण होते है। इस निष्कर्ष को टालने के लिए ही **रसेल** ने इस सिद्धान्त मे परिवर्तन प्रस्तुत किया है।

वह किसी नाम के अर्थ और प्रतिज्ञप्ति में निहित तथ्य मे भेद करते है। एक व्यक्तिगत लक्ष्य किसी नाम से निर्दिष्ट होता है। नाम एक प्रतीक है जो किसी विशिष्ट लक्ष्य पदार्थ को निर्दिष्ट करता है। यह एक खुला तथ्य है। कोई भी अर्थ अपने आप मे सत्य या झूठ नही होता वह बस होता है। सत्यता या मिथ्यात्व प्रतिज्ञप्ति पर निर्दिष्ट होता है और प्रतिज्ञप्ति वस्तुपरक तथ्य के कारण सत्य या मिथ्या होती है। प्रत्येक वस्तुपरक तथ्य की दो प्रतिज्ञप्तिया होती है

जिनमें से एक सत्य होती है क्योंकि वह तथ्य से संगत नहीं होती। सत्य विधेयात्मक प्रतिज्ञप्ति के प्रसग मे सगति का यह सिद्धान्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। प्रत्येक तथ्य पर आधारित प्रतिज्ञप्तियों के युग्म मे यदि सत्य प्रतिज्ञप्ति विधेयात्मक है तो वह इसलिए है कि तथ्य से सगत है। निषेधात्मक प्रतिज्ञप्ति जो कि तथ्य से संगत नहीं होती, तथ्य से मिथ्या सबंध रखती है। इस युग्म को ले। सुकरात जीवित है और सुकरात जीवित नहीं है। यहां निषेधात्मक प्रतिज्ञप्ति सत्य है और विधेयात्मक प्रतिज्ञप्ति मिथ्या है। **रसेल** के मत से निषेध प्रतिज्ञप्ति यदि सच है तो उसका सगत तथ्य होगा। अन्यथा वह सच नही हो सकता। पर इस साध्य का संगत वस्तुपरक तथ्य क्या है कि सुकरात जीवित नहीं है। कोई दिखाई नहीं देता इसलिए होना चाहिए। अतः **रसेल** निषेधात्मक तथ्य के सिद्धान्त को सामने रखते है। सुधी श्रोताओ के बीच इस सिद्धान्त पर काफी विचार–विमर्श चला पर **रसेल** ने स्वय इस सिद्धान्त को अपरिपक्व ही छोड दिया। उसने इस तथ्य पर बल दिया कि निषेधात्मक तथ्यों को आधारभूत अभिग्रहीत के रूप में स्वीकारना चाहिए, यदि संगति (correspondance) के नियम को क्रियाशील होना हो। अब यह देखा जाए कि सप्तभगी के सिद्धान्त में क्या है? प्रत्येक वस्तु मे सात प्रकथन (predication) भगिमाओ एव प्राथमिक रूप से विधेयात्मक एव निषेधात्मक की सभावना रहती है। विधेयात्मक प्रतिज्ञप्ति स्वयं के रूप (भाव), द्रव्य, स्थान और काल से निर्धारित रहती है। निषेधात्मक प्रतिज्ञप्ति भी इन्ही चार पर रूप (भाव), द्रव्य, स्थान और काल से निर्धारित होती है। पर इसमे ये चार स्वय से सबधित नहीं होते। इस प्रसग मे दोनो प्रतिज्ञप्तिया सत्य होती है। निषेधात्मक प्रतिज्ञप्ति स्व सम्बन्ध के प्रसग में और विधेयात्मक प्रतिज्ञप्ति पर सम्बन्ध के प्रसंग मे ये दोनो मिथ्या होगी। सुकरात के अपने काल से सबधित प्रतिज्ञप्ति सत्य है जबकि किसी अन्य काल से सबंधित होने पर असत्य। अतः यह कहना कि वह अभी जीवित है ऐसी ही असत्य प्रतिज्ञप्ति होगी। केवल यह कहने के लिए अधिकृत हैं कि वह अब जीवित नहीं है।

अतः हम कुछ इस प्रकार कह सकते हैं कोई वस्तु जो अपने स्वभाव, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र एवं स्वकाल मे है वह विधेयात्मक प्रतिज्ञप्ति

के सत्य को प्रकट करने वाली विधेयात्मक तथ्य रूप है। वस्तु अपने पररूप (परभाव), परद्रव्य, परक्षेत्र एव परकाल मे निषेधात्मक तथ्य निर्मित करती है। यह निषेधात्मक को प्रमाणित करती है। इसकी व्याख्या **रसेल** के निषेधात्मक तथ्य के आधार पर की जा सकती है। न तो हम **रसेल** के मत को विकसित कर रहे है और न यह आरोपित कर रहे हैं कि वह प्राचीन भारतीय नैयायिको से अग्रणी था। कुछ भी है, यह तुलनात्मक अध्ययन रोचक एव विचारोत्तेजक है।

जो बौद्धो के शून्यवाद तथा वेदांतियो के परम अद्वैतवाद का परिहार करते है, तथा चार्वाक के सतही यथार्थवाद से तथा न्यायवादियो के हास्यास्पद आदर्शवाद से बचकर चलते हैं, उन स्याद्वादियो के हाथो मे यह सप्तभगी एक शक्तिशाली तर्कशास्त्र है।

शब्द सूची

(Index)